अंक 03 ISSN.: 2581- 8074, Peer Reviewed Journal जनवरी 2024

प्रचेतस

http://prachetas.in/

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की राष्ट्रीय शोध पत्रिका (Multidisciplinary)

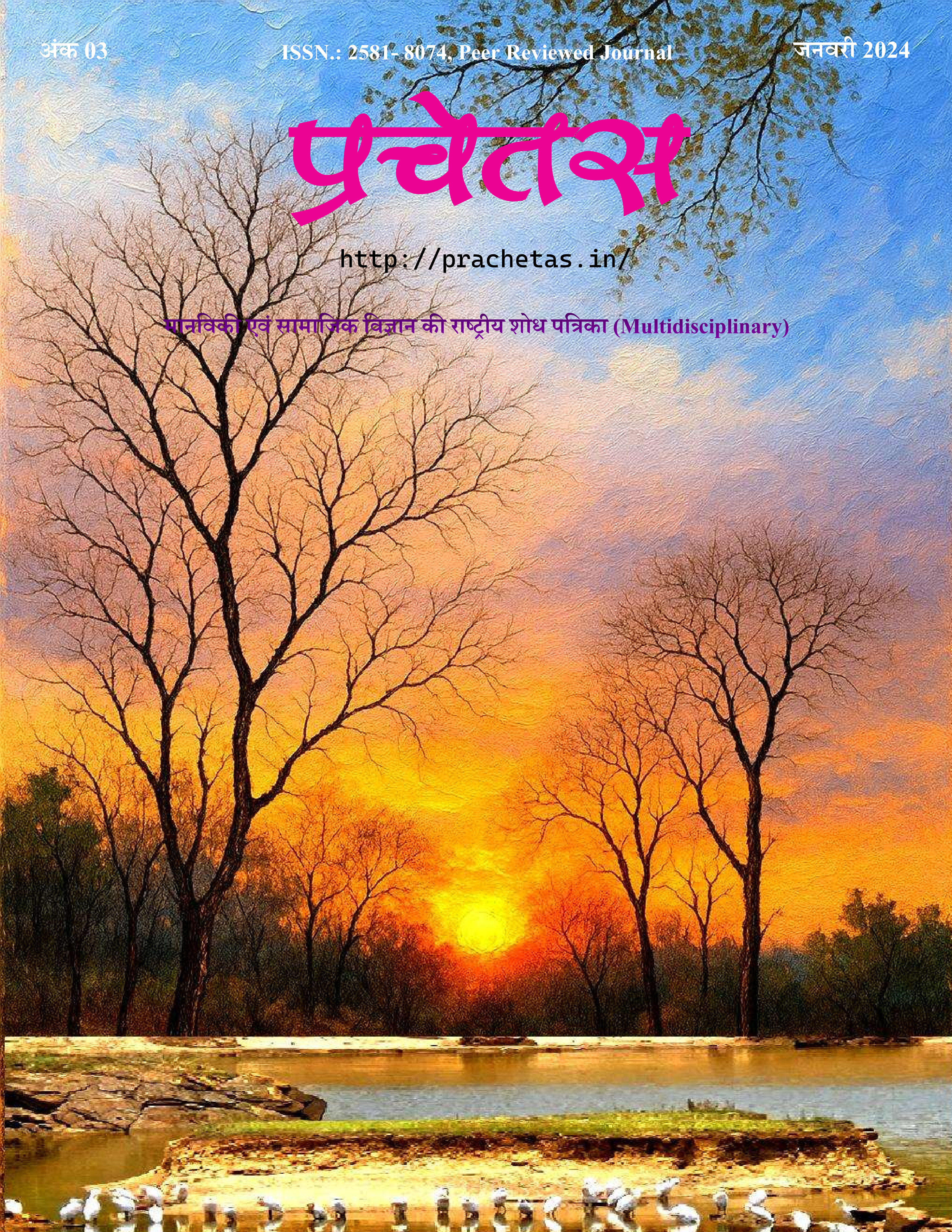

प्रचेतस

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की राष्ट्रीय शोध पत्रिका (Multidisciplinary)

ISSN.: 2581- 8074

RNI NO.: 1270

Peer Reviewed Journal

अंक - 03

जनवरी 2024

'प्रचेतस पत्रिका' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक- प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र दिल्ली होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक हैं।

©सर्वाधिकार सुरक्षित

संपादक मण्डल

- डॉ. विवेकानन्द उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
- डॉ मलखान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- डॉ. पंकज कुमार चौधरी, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
- डॉ. गजेंद्र प्रताप सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, एस. सी. एण्ड आई. एस, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- डॉ. शिव प्रकाश, असिस्टेंट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र (उर्दू), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

परामर्श मण्डल

- प्रो. नरेंद्र मिश्र, हिन्दी विभाग, मानविकी विद्यापीठ, IGNOU, नई दिल्ली
- प्रो. सर्वेश सिंह, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ
- डॉ लाल चंद राम, भाषा शिक्षण हिन्दी, एनसीईआरटी, दिल्ली
- डॉ गीता नायक, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- डॉ ललित कुमार सिंह, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश
- डॉ. रूपेश कुमार सिंह, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
- प्रो बिपुल कुमार, हिन्दी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात

संपादन सहयोग

- महेंद्र सिंह, शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- बिश्वजीत कलता, शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र (हिन्दी), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

तकनीकी सहयोग

- लोकेन्द्र सिंह
- राकेश कुमार

आवरण – डॉ मलखान सिंह

संपर्क - *malkhan1979@gmail.com*

- रचना भेजने संबंधित जानकारी के लिए पत्रिका की वेबसाइट (www.prachetas.in) देखें।

इस अंक में ...🗁

सम्पादकीय ...... ✍

शोध आलेख **पृष्ठ संख्या**

1. भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में ओड़िआ कहानी: गाँव.......... डॉ मलखान सिंह ,प्रो उदयनाथ साहू...01
2. हिन्दी कथा-साहित्य में कश्मीरी हिंदुओं के निर्वासन की मनोव्यथा..........................विनीत पांडे....10
3. नागार्जुन की पक्षधरता..डॉ. धीरेन्द्र कुमार 20
4. अवधी लोकगीतों में व्यक्त लोकतात्विक संवेदना...अचला वर्मा....28
5. मनुष्यता की पक्षधरता के कवि कुमार अंबुज...गुरदीप....37
6. रागात्मक संबंध और लीलाधर मंडलोई.. विकाश कुमार यादव....45
7. नासिरा शर्मा की स्त्री दृष्टि.. यशवंत....51
8. समकालीन हिंदी नाटकों में स्त्री मुक्ति और सामाजिक लोकतंत्र.........................दिव्यप्रकाश....58
9. पूर्वी भारत में शैव साहित्य का अनुशीलन.................................... बिश्वजीत कलता....62
10. प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थ और दलित चेतना का पुनर्मूल्यांकन.................... प्रांजलि देवी....69
11. हिन्दी वेबसीरीज़ का सामाजिक प्रभाव: भाषा..........................प्रो. विकास शर्मा, शुभम सिंह....78
12. हिन्दी उपन्यासों में व्यक्त आदिवासी शोषण और स्त्री..................................संजय साव....93
13. केदारनाथ सिंह की कविता 'गाँव आने पर' : एक अवलोकन.................... अभिषेक सौरभ....103

कविता

1. पाँच कविताएँ...गौरव भारती....110

कहानी

1. अपराजिता.. स्वाति वर्णवाल....115

संस्मरण

1. कोटाः अतुल्य भारत का अद्भुत शहर..अजीत डिडेल....123

पुस्तक समीक्षा

1. संस्कार: भारतीय समाज की रूढ़िगत परंपराओं और सांस्कृतिक...........................उद्देश्य सिंह....126

अनुवाद

1. वर्षगांठ – रुसी एकांकी का अनुवाद... डॉ. आशुतोष आनंद....138

सम्पादकीय...

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण विश्व अमिरीकी एकाधिकारवाद तथा चीनी विस्तारवाद की चपेट में है। प्रकृति विरोधी विकास और संस्कृति विरोधी व्यापार से मानव विरोधी संसार बन रहा है। परिणामतः हिंसा और लूट के खतरनाक स्वरूप महिमा मंडित हो रहे हैं। जिसके कारण पाश्विक वृत्तियाँ सर उठाने लगीं हैं। अच्छाई के प्रति आस्था का संकट गहराने लगा है। ऐसे अवसर में जब ज्ञान और व्यवहार का अंतर चौड़ा होने लगे और विसंगतियां जन्म लेने लगें तो संवेदनशील रचनाकारों का बेचैन होना स्वाभाविक है। उनकी यह बेचैनी ही उनके साहित्य-सृजन का आधार है। **सामाजिक- सांस्कृतिक त्रासदियों के विरुद्ध बेचैन स्वरों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य है।**

इसप्रकार 'मनुष्य की जो-जो पीड़ाएं, त्रासदियां,बेचैनियाँ,आकांक्षाएं हैं, उन सबसे साहित्य के सरोकार अनिवार्य रूप से बद्ध हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक,राजनीतिक दृष्टि से साहित्य के सरोकार जितने स्पष्ट और मार्मिक ढंग से चित्रित होते हैं, उतना ही वह साहित्य 'मनुष्य के लिए' माना जाता है'।

आज छल-कपट और ठगी को प्रबंध कौशल, अन्याय और अधिकार हनन को चतुराई, नैतिकता विहीन आचरण को आधुनिकता और आडम्बर को धर्म कहने-मानने वालों के बीच संघर्ष और स्वप्न के बीज बोना मनुष्य जीवन को अनंत संभावनाओं से भर देना है। आँखों में कोई स्वप्न न बचे तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। व्यर्थताबोध से मन अशांत होता है। जहाँ अशान्ति है वहाँ खुशियाँ बनावटी हैं। इसलिए **आज का साहित्य कृत्रिमता को मनुष्यता के लिए अभिशाप मानता है।**

साहित्य अकर्मण्यता और धर्मान्धता के स्थान पर संघर्षशीलता और कर्तव्यपरायणता का बोध तथा लोगों में स्वाभिमान और आत्मगौरव का भाव जाग्रत कर आडम्बर रहित जीवन जीने की प्रेरणा देता है। **वस्तुतः समानता और समरसता के धरातल पर मानव गरिमा की प्रतिष्ठा ही साहित्य का अन्यतम उद्देश्य है।**

आज के साहित्य का मुख्य ध्येय अधूरी आजादी और अधूरे सपनों को पूरा करने वाली लड़ाई को धारदार बनाने वाला होना चाहिए। सपने कैसे सच होंगें? जब लक्ष्य की दिशा में परिवर्तनकामी कदम उठेंगे और ये कदम मजबूत आत्मविश्वास के बिना नहीं उठ सकते। स्मृतियाँ आत्मविश्वास को मजबूत बनाती हैं। आज का मुख्य संकट स्मृतिध्वंस का है। रचनाकार अपनी रचना के माध्यम से अपने पाठकों की स्मृति से जोड़ता है। उन्हें उनके पुरखों के संकल्पों की याद दिलाता है।राष्ट्र के नव निर्माण का जो संकल्प हमने अमर शहीदों की चिताओं के सामने किया था-उन स्मृतियों को ताजा करता है। अतीतजीवी नहीं बनाता बल्कि स्मृतियों के सहारे अपने वर्तमान को साधता है **-जो पाया उसमें खो न जाएं ,जो खोया उसका ध्यान करें**। इसप्रकार इतिहास बोध के साथ आम जनता को अपने कर्तव्य के प्रति सजग और नव निर्माण के प्रति संकल्पबद्ध बनाया जा सकता है।

जब वैचारिक शून्यता का अँधेरा गहराने लगे और व्यर्थता, क्षुब्धता, नकारात्मकता में वृद्धि होने लगे तब ऐसे में प्रखर वैचारिक सृजन ही श्रेयस्कर पथ प्रदर्शक बनता है। गो. तुलसीदास भी विचारों

की श्रेष्ठता पर बल देने वाले कवि हैं। वे विचार विहीन कविता को कविता नहीं मानते। उनके अनुसार श्रेष्ठ विचारों से युक्त कविता मुक्तामणि के समान सुन्दर होती है, जो समस्त चिंताओं और नकारात्मकताओं से मुक्त करती है।

जौं बरषइ बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुक्तामनि चारू...

पत्रिका का यह अंक विषय वैविध्यता और समसामयिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मुझे विश्वास है कि अध्येताओं के लिए यह अंक अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। इस अंक में निर्वासन की मनोव्यथा,लोकतात्विक संवेदना, मनुष्यता की पक्षधरता, रागात्मक सम्बन्धों की सरसता, स्त्री दृष्टि,दलित चेतना, हिंदी वेबसीरीज का प्रभाव, आदिवासी जीवन का यथार्थ, शैव साहित्य, सामाजिक लोकतंत्र आदि से सम्बंधित लेख हैं जो यथार्थ, स्वप्न और संघर्ष की कसौटी में जीवन को कसते हैं।

मलखान सिंह

सम्पादक
डॉ. मलखान सिंह

(शोध आलेख)

भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में ओड़िआ कहानी: गाँव, स्मृति और संकट

डॉ मलखान सिंह, प्रो उदयनाथ साहू

(Major research project Sponsored by ICSSR, New Delhi)

भूमंडलीकरण 21वीं सदी की वह सांस्कृतिक और आर्थिक प्रक्रिया है जिसने पूरे विश्व को एक साझा मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। साथ ही इससे जुड़ी विसंगतियाँ, असमानताएँ और सांस्कृतिक संकट समाज और साहित्य में तीव्रता से परिलक्षित हुए। भूमंडलीकरण ने जहाँ एक ओर शहरों का विस्तार, आधुनिक तकनीक और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है, वहीं दूसरी ओर ग्राम्य जीवन, लोक-संस्कृति और परंपरागत सामाजिक ताने-बाने को विघटित भी किया है। यह सामाजिक-सांस्कृतिक संकट भारत के हर एक प्रांत को प्रभावित किया। प्रतिक्रिया स्वरूप प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में, यह सामाजिक परिवर्तन और उससे जुड़ी चेतना को एक नए विमर्श के रूप में स्थापित किया है। भूमंडलीकरण के इस दौर में पलायन, उपभोक्तावाद और तकनीक ने गाँव को साहित्य में मात्र भौगोलिक इकाई ही रहने नहीं दिया है, बल्कि एक टूटते हुए अनुभव का रूप दे दिया है, जो अतीत और वर्तमान दोनों से टकराता है।

जब इस परिप्रेक्ष्य में ओड़िआ कहानी को देखते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि भूमंडलीकरण ने ओड़िआ कथाकारों को नया सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक क्षितिज प्रदान किया है।विशेषकर गाँव और उसकी यादें जैसे अनुभवजन्य विषयों को कहानी में पुनर्संरचना का अवसर दिया है। गाँव, जो कभी ओड़िआ साहित्य का आत्मा था, अब भूमंडलीकरण दौर में एक स्मृति, एक मानसिक भूगोल और कई बार संकटग्रस्त पहचान के रूप में सामने आता है। समकालीन ओड़िआ कहानियों में यह ग्राम्य स्मृति कभी नॉस्टैल्जिया के रूप में, कभी आलोचनात्मक पुनर्पाठ के रूप में, तो कभी सांस्कृतिक संकट के रूप में चित्रित होती है। यह स्मृति न केवल भूमि, फसल या लोकाचार से जुड़ी होती है, बल्कि रिश्तों, भाषा, परंपराओं और पहचान की बहस को भी केंद्र में लाती है।

ओड़िआ कहानी, जो आरंभ से ही ग्रामीण जीवन, सामाजिक बदलाव, जातिगत विषमता और स्त्री प्रश्नों को स्वर देती रही है, अब भूमंडलीकरण के दौर में नई चुनौतियों और संकटों का साक्ष्य बन गई है। यह वह समय है जब गाँव केवल भूगोल नहीं, बल्कि एक छूटता हुआ अनुभव, एक स्मृति-स्थान और एक संकटग्रस्त पहचान बन गया है। समकालीन ओड़िआ लेखकों ने अपनी कहानियों में गाँव को केवल स्थान नहीं, बल्कि संघर्ष का प्रतीक, सांस्कृतिक उत्तरजीविता का माध्यम और आधुनिकता के असर से जूझती चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है।

1980 के दशक से पूर्व की ओड़िआ कहानी मुख्यतः सामाजिक यथार्थ, अस्तित्व और वर्जनाओं के इर्द-गिर्द घूमती थी, कथाकारों का ध्यान गाँव से हटकर शहर, उपभोक्तावाद, मध्यवर्गीय जीवन और व्यक्तिगत टकरावों की ओर गया। परंतु 1980 के बाद, विशेषकर 1990 के बाद भूमंडलीकरण के दौर में, यह बिछडा हुआ ग्राम्य अनुभव फिर से कथा में लौटने लगा पर इस बार वह प्रत्यक्ष यथार्थ नहीं, बल्कि एक स्मृति, व्यथा और सांस्कृतिक चिन्ता के रूप में था। डॉ. कविता वारिक लिखती हैं कि- “हालाँकि अब वह पुराना गाँव, उसकी जीवनधारा, उसका परिवेश वैसा नहीं रहा, फिर भी कथाकार ने अपने स्मृति-पट पर उस गाँव की छवि अंकित कर रखी है।”1

कविता जी का यह वाक्य ओड़िआ कहानी में ग्राम स्मृति की पुनरावृत्ति की ओर इंगित करता है भले ही अलग रूप मे क्यों ना हो। लेखक शहर में रहते हुए भी अपने भीतर गाँव के अनुभव को जीता है, जिसे वह कहानियों में पुनः रचता है। इंटरनेट, व्हाट्सएप, इंस्टाग्राम, गूगल जैसे डिजिटल उपकरणों के बीच जीवन बिताने के बावजूद कथाकारों ने जिस भावुकता से गाँव को फिर से ढूँढ़ा है, वह एक तरह का सांस्कृतिक प्रतिरोध भी है। यह प्रतिरोध केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि आदर्श और पहचान की रक्षा का यत्न भी है।

इस समय सक्रिय कथाकारों में अधिकांश अपेक्षाकृत युवा हैं। फिर भी वरिष्ठ लेखकों की कई लघुकथाओं में इस कालखंड में अपनी माटी के प्रति संवेदनशीलता एवं ग्रामीण चेतना की भावधारा विद्यमान है। वे कथाकार जिनकी कहानियों की आत्मा के रूप में गाँव के प्रति प्रेम और मिट्टी के मोह को अनुभव किया जा सकता है, उनमें प्रमुख हैं- महापात्र नीलमणि साहू, शांतनु कुमार आचार्य, प्रतिभा राय,रजनीकांत महांति, रंधाकर चईनी, रश्मि राउत, गिरीश चंद्र साहू, दास बेनहुर, प्रशांत कुमार महांति, प्रकाश कुमार परिड़ा, गौरहरि दास, विष्णु साहू, अरविंद धल, यशोवंत सामल, परेश कुमार पट्टनायक, प्रदीप नायक, विजय नायक, रत्नाकर नायक आदि हैं।

महापात्र नीलमणि साहू की अनेक कहानियों में गाँव के जीवन का सजीव और सटीक चित्रण मिलता है। उनके चर्चित कथा-संग्रह जैसे-‘अभिशप्त गंधर्व’ (1981), ‘रानुआपा से पुसि तक’ (1983), ‘लौकिक अलौकिक’ (1983), ‘बाइधर का राजयोग’ (2004) आदि में संकलित कहानियों का यदि विश्लेषण किया जाए, तो उनमें निहित ग्राम्य मोह को सहजता से पहचाना जा सकता है।

इसी प्रकार ‘वृंदावन का अंतिम धूप’ संग्रह की कुछ कहानियों में भी गाँव की बात स्मृति के रूप में अंकित की गई है।विशेष रूप से ‘अभिशप्त गंधर्व’ कथा-संग्रह में, गाँव का वनबुड़ा, आंबटोला (आम का बगीचा), और पुण्यतोया नामक प्राचीन नदी की शोभा और सौंदर्य का ऐसा चित्र खींचा गया है कि वह पाठकों के सामने गाँव की एक मधुर झांकी प्रस्तुत करता है।

महापात्र नीलमणि साहू ओडिशा के एक सुदूर ग्रामीण अंचल (निआली) में जन्मे थे और उन्होंने अपना किशोरकाल वहीं व्यतीत किया। गाँव का वातावरण और वहाँ के चित्र-चरित्र उनके मानस-पटल पर अत्यंत जीवंत रूप में अंकित थे, जो आगे चलकर उनकी कहानियों के कथात्मक रूप में चित्रित हुए हैं।गाँव का परिवेश, वहाँ की अनेक अविस्मरणीय घटनाएँ, उनकी लघुकथाओं की भावभूमि बनकर पाठकों को चकित और भावविभोर कर देती हैं। गाँव का वही चित्र-चरित्र उनके लिए कहानी लेखन की प्रेरणा बना।उनकी कथाओं में वह ग्राम्य स्मृति शब्दों के माध्यम से इतनी स्वाभाविकता और आत्मीयता से व्यक्त होती है कि पाठक उसमें डूब जाता है।'अभिशप्त गंधर्व' संग्रह की रचना 'मैंने कहानी कैसे लिखी' में वे स्वयं लिखते हैं…

"वैसे ही हमारे गाँव के बूढ़े चौकीदार गरीब कंडरा, हमारे गाँव के न्यायप्रिय पुरुष बालेई मियाँ, ताश में माहिर मिटुबाबू, महान नाटकबाज़ बूढ़े गोलखा महापात्र, भगवान को देखने का दावा और हमेशा अलौकिक अनुभूति में झूमते रहते थे- वृंदावन मिश्र, फिर बाउरी साही के बुधुआ भोई, नटीआ कालेसी, और हमारे बिछिन्न परिवार के मेरे पिता, चाचा, माँ, चाची, और विधवा बुआएँ-इस प्रकार के असंख्य-अनगिनत चरित्र आज भी मेरे मन में चित्रों की भाँति जीवित हैं।…मुझे लगता है कि मानव चरित्र की इस आकर्षक और रहस्यमयी विविधता के प्रति मेरी गहरी रुचि और आकर्षण ही मुझे कहानी लेखन की ओर प्रवृत्त कर पाया।"2

शांतनु कुमार आचार्य की कई कहानियों में गाँव की पृष्ठभूमि और गाँव की अनेक मूलभूत विशेषताएँ है।परंतु उनकी कहानियाँ अक्सर किसी उच्च आदर्श या जीवन-दृष्टि की भी बात करती हैं। जैसे कि 'पितृऋण', 'मातृभूमिका दर्शन', और 'जहाँ मछलियाँ खेल रही थीं' आदि।इस संदर्भ में यदि हम 'मातृभूमिका दर्शन' कहानी का विश्लेषण करें, तो हम देख सकते हैं कि गाँव का एक अत्यंत वृद्ध व्यक्ति, गाँव की मिट्टी और भूमि के प्रति अपने अनुभव को किस प्रकार साझा करता है-

"कानों में कुंडल-सा सत्तर साल बीत गए-इसी मिट्टी के टुकड़े पर सिर टिकाकर मैं पड़ा रहा, तब जाकर जीवन का थोड़ा सा चैन मिला। यहीं पानी खींचा, घांटी (हाथ-चक्की) चलाई, जवान हुए, गृहस्थ बने। यही मिट्टी…इसी मिट्टी को पिता ने पाँच सिरी (नाप) की धोती में मुझे मापकर सौंपा था उस ज़माने में, जब भर-भरकर सोना पैदा होता था। और आज इस बुजुर्ग उम्र में मैं इस धरती के टुकड़े को छोड़कर कहाँ चला जाऊँगा, बाबू?अब तो खड़ा भी नहीं हुआ जाता… किसी दिन यही धरती, शायद अपने आँचल में थोड़ी सी जगह दे दे- जहाँ मैं लेट सकूँ, सो सकूँ।"3

यह संवाद गाँव और मिट्टी के प्रति एक गहरे भावनात्मक जुड़ाव को दर्शाता है। यह सिर्फ भूमि नहीं, बल्कि अस्तित्व, पीढ़ीगत संबंध और आत्म-परिचय का प्रतीक बन जाता है।

कृष्णप्रसाद मिश्र के 'माणिक्यसंधान' (1989) संकलन में 'निज को नायक बना कर' कहानी में ग्राम्य संस्कृति का आरोपण और उसका स्पष्ट चित्रण करता है। 'निज को नायक बना कर' के साथ-साथ 'अब्दुल्ला मोर ककेई', 'अस्तित्व', 'जे बंधुबा', 'सालबाईड्डु' आदि कहानी ग्रामीण संस्कृति के परिप्रेक्ष्य से आलोच्य है। इन कहानियों में लेखक के अपने गाँव की आँगन से लेकर वहाँ के लोगों के आने-जाने और जीवन की गतिविधियों का जिस प्रकार चित्रण है, उसी प्रकार गाँव की क्षीण होती परंपराओं और संस्कृति के प्रति एक गहरा अफसोस भी व्यक्त हुआ है। विशेष रूप से, जब कहानी के नायक के किशोरावस्था के दिनों की पृष्ठभूमि को दिखाया जाता है, तो गाँव की संस्कृति का चित्रण बहुत आत्मीय और स्वाभाविक रूप में सामने आता है।गाँव के भागवत पाठ, पुराण कथा, पूजा-पाठ और मानसिक शांति जैसे प्रसंगों के माध्यम से ओड़िआ ग्रामीण जीवन की खुशबू अनुभव की जा सकती है। जब लेखक 'बोउ' (माँ) के विषय में कहानी कहते हैं, तो वे उल्लेख करते हैं-

"जब वह भागवत, विष्णु पुराण या हरिवंश पढ़ती थीं, तो मैं खेल-कूदकर लौटकर चुपचाप उनके पास बैठ जाता और पुराण की बातें सुनता। कभी-कभी जब वह लक्ष्मी जी की कथा कहती थीं… उसके कहे कुछ पद आज भी मुझे याद है-वह आवाज़ सुनने में कितनी अच्छी लगती थी।"4इस प्रकार कहानियाँ ग्रामीण स्मृति के साथ अपनी संस्कृति-सचेतता को भी दर्शाती हैं।

प्रतिभा राय की कहानियों में भूमंडलीकरण के प्रभाव से उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक विस्थापन का गहरा चित्रण मिलता है। इस सन्दर्भ में उनकी कई कहानियों में ऐसे पात्र मिलते हैं जो विदेशी भूमि पर रहकर भी अपनी जड़ों, संस्कृति और देश की याद में जीते हैं। प्रवासी पात्रों के माध्यम से वे यह दर्शाती हैं कि आर्थिक या शैक्षणिक कारणों से विदेश में रहने वाले भारतीयों के भीतर मूल पहचान, स्मृति और अपनापन की भावना कितनी गहराई तक जुड़ी होती है।उदाहरण के लिए, प्रतिभा राय की कहानी 'आसमान' (आकाश) या 'मुक्ति' (मोक्ष) में हम ऐसे पात्र देखते हैं जो आधुनिक जीवनशैली और वैश्विक सोच के बीच भी अपने देश की माटी, बोली, रिश्तों और परंपराओं को नहीं भूलते। उनका प्रवासी पात्र कहता है- "विदेश की सुख-सुविधा के बीच भी मुझे माँ की रसोई की खुशबू, गाँव के पीपल के नीचे की बैठक और संध्या आरती की घंटियों की आवाज़ बार-बार याद आती है।"5

यह भावनात्मक लगाव उस अंतर्द्वंद्व को दर्शाता है जिसमें एक ओर वह भूमंडलीकृत व्यक्ति है जो दुनिया के किसी भी कोने में रह सकता है, और दूसरी ओर वह सांस्कृतिक भारतीय है जो अपनी जड़ों से कट नहीं सकता ।इन कहानियों में प्रवासी पात्र जब अपने देश, गाँव या परिवार को याद करते हैं, तो यह केवल स्मृति नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनःस्वस्थापन (cultural re-rooting) की एक प्रक्रिया बन जाती है। वे अपने अनुभवों के ज़रिये यह महसूस करते हैं कि भूमंडलीकरण भले ही आर्थिक और भौगोलिक सीमाएँ मिटा दे, लेकिन आत्मिक और सांस्कृतिक संबंधों को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकता।

रजनीकांत महांति की कहानियाँ 1980 के बाद की ओड़िआ कहानी में ग्रामीण चेतना के दिशा में विकसित हुईं। 'शतांडी पुरुष' (1981) और 'माटिया पूअ' (1989) जैसे संकलनों की कई कहानियाँ इस बात का प्रमाण हैं। उनकी जिन कहानियों में ग्रामीण चेतना की स्वरधारा और हस्ताक्षर परिलक्षित होते हैं, उनमें गरीबों के प्रति सहानुभूति की भावना प्रमुख रूप से उभरकर आती है। उनकी अनेक कहानियाँ गाँव के गरीब लोगों की दुख-दर्द से भरी जीवनगाथा को शब्दों का रूप देती हैं। इस संबंध में डॉ. क्षीरोदचंद्र बेहरा ने ठीक लिखा है-

"गाँव की गलियों से ही चरित्रों को उठाकर कहानियाँ रचते हैं रजनीकांत। उनके कथानक में ग्रामीण जीवन में व्याप्त गरीबी से जूझते लोगों का संघर्ष और पारिवारिक एकता की पूर्ण तस्वीर दिखाई देती है। वे गाँव में रहने वाले भूखे, बेसहारा लोगों की असहाय कहानियों से अपना कथा-जगत गढ़ते हैं।"6

गौरहरी दास की कई कहानियों में ग्रामीण चेतना और मिट्टी से जुड़ी मानसिकता का स्वर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।'शेषबाज़ी' संग्रह की कहानियाँ जैसे 'पशापाली', 'उपेक्षित राजकुमार', 'मंत्री आएँगे बोलकर' आदि में ग्रामीण चेतना की गूंज पाठक अनुभव कर सकते हैं। गाँव के साधारण पात्रों का चित्रण, उपेक्षित गाँवों की स्थिति और ग्रामीण जीवन की बेबसी की प्रस्तुति में गौरहरी दास की कहानियाँ अत्यंत सजीव हैं।'उपेक्षित राजकुमार' कहानी में मुख्य पात्र 'भरत' के माध्यम से गाँव के प्रति प्रेम को गौरहरी दास ने बहुत सुंदर ढंग से दर्शाया है। गरीबी की पीड़ा सह न पाने के कारण वह गाँव छोड़ने को मजबूर होता है, फिर भी उसके मन में गाँव के प्रति लगाव अटूट बना रहता है।हालाँकि कहानी की भावभूमि अलग है, फिर भी उसमें ग्रामीण चेतना की झलक विद्यमान है। लेखक के शब्दों में:

"गाँव छोड़ने की बात कहते समय न जाने क्यों भरत की आवाज़ भारी हो गई थी। उसे लग रहा था कि सचमुच अगर वह इस गाँव से चला गया तो गाँव सूना-सूना लगेगा, यह गाँव अब पहले जैसा गाँव नहीं रह जाएगा।"7

इसी तरह 'पशापाली' कहानी में गाँव के सरल पात्र जगबंधु के करुण जीवन वर्णन के माध्यम से ग्रामीण जीवन की विवशता को लेखक ने दर्शाया है।'मंत्री आएँगे बोलकर' कहानी में भी मंत्री के आगमन से उत्सवमय बने हरिपुर गाँव का जीवंत चित्रण मिलता है। हालाँकि कहानी में मंत्री की उपेक्षा और गाँव की दुर्दशा को प्रमुख रूप से दिखाया गया है, लेकिन इसकी कथा में ग्रामीण जीवन की छवि अद्भुत है।इस पर डॉ. दिलीप कुमार स्वाईं का कथन उल्लेखनीय है-

"1980 के बाद ओड़िआ कहानियों में गाँव, मिट्टी और मूल संस्कृति की ओर लौटने का प्रयास शुरू हुआ। इस दिशा में प्रयोग की अगुवाई गौरहरी दास ने की। शहरी व्यक्ति की व्यक्तिगत त्रासदी पर लिखी गई 'ब्रांड वैल्यू' वाली कहानियों के बरक्स गौरहरी ने गाँव, माँ, बचपन, पिता, शिक्षक, अखाड़ाघर, कागज की नाव और घर जैसे भावों से सजी कहानियों को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया।"8

प्रशांत महांति इस कालखंड के एक विशिष्ट कथाकार हैं। उनकी कहानियों के भावपक्ष तथा अभिव्यक्ति में ग्रामीण चेतना और माटी से जुड़ी भावुकता की स्पष्ट झलक मिलती है। उनके कई कथानकों में माटी से जुड़ाव और ग्रामीण संवेदना मुखर होकर सामने आती है। उनके पात्र गाँव की मिट्टी को चंदन के समान माथे पर धारण करते हुए, शहरी सुविधाओं और निमंत्रणों को ठुकरा देते हैं। शहर के आराम और भोग-विलास के बजाय गाँव की मिट्टी की सोंधी खुशबू उनके चेतना में अधिक मधुर रूप में बसी रहती है।1996 में प्रकाशित उनके पहले कहानी संग्रह "बेहेड़ा और अन्य कहानियाँ" की पहली कहानी 'पंजुरी'(पिंजरा) में पात्र सदानंद ऐसा ही चरित्र है, जो भले ही शहर के आलीशान मकानों में आना-जाना करता है, पर शहर में रच-बस चुके अपने बच्चों को गाँव लौटने की बात समझाता है। इसी प्रकार कहानी 'अतड़ा' का सनातन भी गाँव की मिट्टी से अत्यंत भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ है। उसकी गाँव-प्रेम और माटी मोह ही इस लघुकथा का मूल भाव है। 'बेहेड़ा' कहानी में भी मंत्री नित्यनंद की गाँव के प्रति मोह और प्रेम को लेखक ने बड़ी आत्मीयता से दिखाया है, जिसे शहरी बाबू लोग पागलपन समझते हैं।

उनकी कहानियाँ जैसे-'सुख-संधान', 'रामबाण', 'भंगा उलर पारा', 'पदचिह्न', 'छांट', 'निज समाधि का नक्शा', 'देहलग्न', 'स्वप्नतलाश के रंग' आदि में भी ग्रामीण चेतना की झलक पाठकों को आकर्षित करती है।गाँव के पात्र, आत्मीयता, निष्कलुष संबंध और आपसी सौहार्द्र को प्रशांत महांति ने बड़ी सजीवता से चित्रित किया है। उनकी कहानी 'भौंरी भीतर भाग्य' में मुख्य पात्र विस्मय, अपने बेटे तन्मय के पूछे गए सवालों के माध्यम से पूरे शिक्षित, आधुनिक, प्रगतिशील, लेकिन स्वार्थी शहरी व्यक्ति को गाँव के विषय में एक गहरी बात कहता है-"चाहे कितने ही बड़े अधिकारी, नेता क्यों न बन गए हों, उन्होंने भी कभी अपने जीवन की शुरुआत गाँव की मिट्टी से ही की थी। फिर भी आज शहर की चकाचौंध में वे अपनी जन्मभूमि को पूरी तरह भुला चुके हैं।"

लेखक की भाषा में-

"सभी लोग गाँव की मिट्टी के ही पुत्र हैं। सभी का बचपन, किशोरावस्था वहीं बीती है। फिर भी उन्होंने अपने गाँव के लिए क्या किया है? सभी ने शहर में अपने लिए सुख-सुविधाओं का अंबार लगा लिया है। काले धन और भ्रष्टाचार से उन्होंने अपना साम्राज्य खड़ा कर लिया है। उनके महल आकाश छूने लगे हैं, और उनकी सुख-सुविधाओं की सूची लंबी होती जा रही है। पर कभी किसी ने पूछा है खुद से.. क्या तुम अपनी प्यारी जन्मभूमि, गाँव और प्रकृति को कैसे और क्यों भूल गए ?"9

इसी तरह 'अमृतलग्न' संग्रह की कहानियाँ 'अनिवार', 'इच्छा की ईश्वरी', तथा 'रूपाजह्न की ठिकाना', 'फेरता तिथि की जह्न' संग्रह की 'सारांश' आदि कहानियों में भी मातृभूमि प्रेम की गहराई स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।'रूपाजह्न की ठिकाना' कहानी में अनिमेष पात्र के माध्यम से लेखक ने गाँव की मिट्टी के

प्रति ममता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-"गाँव छोड़े हुए लगभग बाईस-तेईस साल हो गए। पता नहीं दोबारा उस मिट्टी से जुड़ पाने का मौका आएगा या नहीं। फिर भी उस गाँव की माटी की गंध अब भी मेरे सीने में निरंतर घूमती रहती है।"10

भूमंडलीकरण कालखंड में, प्रशांत महांति ग्रामीण चेतना और मातृभूमि का प्रेम के एक सजीव और सशक्त प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अजय स्वाईं की कहानियाँ जैसे 'मामुंघर गाँव', 'बौउर गीतखाता', 'घर', 'पश्चिममेरु मनुष्य' आदि अनेक लघुकथाओं में ग्रामीण चेतना के विविध रूपों को विषयवस्तु की विविधता के साथ प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इन लघुकथाओं की अभिव्यक्ति शैली भिन्न है,फिर भी लेखकीय स्मृति, अनुभव-संवेदना और वर्णन के आधार पर ग्रामीण चेतना सजीव रूप में उभरती है।

भूमंडलीकरण की लघुकथाओं में यह ग्रामीण चेतना और मिट्टी से जुड़ी मानसिकता 'विजय नायक' की कहानियों में अत्यंत प्रभावशाली बनकर सामने आती है। उनके पात्र भले ही शहर में रहते हैं, फिर भी गाँव को अपनी स्मृति में सजाए-सँवारे रखते हैं और उसके लिए निरंतर तड़पते हैं। यह विभोर भाव-पात्रों और कथाकार दोनों की ग्राम्य मानसिकता को दर्शाता है। गाँव का प्राकृतिक परिवेश, स्नेह, श्रद्धा और मिट्टी से मोह उनकी कहानियों में पाठकों का ध्यान खींचता है।

यद्यपि कथाकार की भाषा, प्रस्तुति और कथनशैली कभी-कभी भिन्न होती है, फिर भी कथा-वस्तु के विकास में उनका ग्रामवर्णन प्रमुखता से दिखाई देता है। गाँव के लोगों के प्रति प्रेम विजय नायक की कहानियों का एक विशेष गुण है।

उनकी कहानी 'धूलि-फूल की महक' इसका सुंदर उदाहरण है। कहानी का नायक सुमन्यु, जो अमेरिका में नौकरी करता है, फिर भी अपने गाँव को भूल नहीं पाता। उसकी पत्नी प्रियम्बदा पूरी तरह से शहरी जीवन और आरामदायक जीवनशैली में रच-बस चुकी होती है। पति-पत्नी के बीच इसी संवेदनात्मक विरोधाभास के प्रसंग को लेकर लेखक ने कहानी को बुना है, जिसमें ग्राम्य चेतना और माटी-ममता ही मुख्य विषय बनकर उभरते हैं।गाँव के प्रति प्रेम, मिट्टी के प्रति आत्मीयता सुमन्यु को बार-बार अमेरिका से खींचकर गाँव की ओर बुलाती है।इसी तरह 'मकरा माझी की प्रेमकथा' कहानी में मकरा भले ही दादन मजदूरी के लिए राज्य से बाहर गया हो, लेकिन गाँव के प्रति उसकी आत्मीयता उसे बार-बार गाँव लौटने के लिए विवश करती है।इन दोनों कहानियों में ग्राम्य चेतना, माटी के प्रति मोह, और गाँव के प्रति जुड़ाव को कथाकारों ने अत्यंत मार्मिकता और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार और भी अनेक ओडिया कहानीकार और उनकी कहानी इस भूमंडलीकरण दौर में अपने गाँव और उसकी स्मृति को पुनर्पाठ कर रहे हैं।

निष्कर्ष:

भूमंडलीकरण की तीव्र प्रक्रिया ने आधुनिकता, तकनीकी विकास और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया, परंतु इसके सापेक्ष ग्रामीण जीवन, परंपरा, और लोक-संस्कृति एक गहरे संकट से गुज़रे हैं। समकालीन ओड़िआ कहानियों में यह संकट केवल सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह स्मृति, अस्मिता और सांस्कृतिक पुनर्पाठ का भी गहरा प्रमाण है। महापात्र नीलमणि साहू से लेकर अजय स्वाईं और विजय नायक तक सबकी कहानियों में गाँव सिर्फ एक स्थान नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान, मानवीय संबंधों, आत्मीयता और संघर्ष की आत्मा के रूप में उपस्थित है। इन कहानियों में लेखक भूमंडलीकृत समय की चकाचौंध के बीच गाँव की सोंधी गंध को बचाए रखने की कोशिश करते हैं , कभी स्मृति के सहारे, कभी प्रतिरोध के स्वर में, और कभी आत्मसंवाद के रूप में।कुल मिलाकर, समकालीन ओड़िआ कहानी में "गाँव" नॉस्टैल्जिया मात्र नहीं है, बल्कि वह एक वैचारिक हस्तक्षेप, सांस्कृतिक जड़ता से जूझने का प्रयास, और मिट्टी से जुड़ी पहचान की पुनःस्थापना का माध्यम है।

डॉ मलखान सिंह , प्रो उदयनाथ साहू

(Major research project Sponsored by ICSSR, New Delhi,

File No- 02/121/GN/2021-22/ICSSR/RP/MJ)

भारतीय भषा केंद्र ,जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय नई दिल्ली

मोब -9990765648

सन्दर्भ :

1. शहेवर्षर आधुनिक ओड़िआ क्षुद्रगल्प एक तत्विक विश्लेषण, कविता वारिक, विद्यापुरि, कटक, 1999, पृ-221

2. अभिशप्त गंदर्भ, महापात्र नीलमणि साहु, अग्रदूत, कटक, 2004, पृ-16

3. श्रेष्ठगल्प, शांतनु कुमार आचार्य,NBT, india, 2013, पृ- 373

4. माणिक्य संधान, कृष्णप्रसाद मिश्र, कटक स्टुडेंट स्टोर, कटक, 1989, पृ- 35

5. वेनहुर गल्पविधा, सौरेंद्री वारिक, मुखशाला, ओडिशा स्टुडेंट स्टोर, कटक, 1994, पृ- 86

6. एकविंश शताब्दीरे ओडिआ गल्प: प्रतिश्रुति ओ सम्भावना, क्षिरोद्रचंद्र बेहेरा, श्रीमति वनानी बेहेरा प्रकासनी, राउरकेला, 2003, पृ- 89

7. शेषबाजी, गौरहरि दास, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, विनोद विहारी, कटक, 1998, पृ-81

8. समकालीन ओडिआ गप: स्वप्न, सम्भावना, सत्यपाठ, दिल्लीप कुमार स्वाईँ, आम समयर सृजनी, सं-हरिहर शुक्ला, नईदिल्ली, 2016, पृ-345

9. इच्छार ईश्वरी, प्रशांत महान्ति, विजयिनी पब्लिकेशन, कटक, 2011, पृ- 92

10. वही, पृ- 26

(शोध आलेख)

हिन्दी कथा-साहित्य में कश्मीरी हिंदुओं के निर्वासन की मनोव्यथा की प्रथम उपस्थिति

विनीत पांडे

"The house where I was born had

seven windows but its door is close to me..."

James k. Baxter'

हिन्दी कथा-साहित्य में प्रथमतः 'संजना कौल' की कहानी 'पत्थर और धात का जमाना’ कश्मीर में ऊन्नीस सौ नब्बे के दशक के दौरान जब मज़हबी अलगाववाद और जिहादी आतंकवाद के फैलाये गए भारत विरोधी षड्यंत्रकारी शिकंजे में वहां की प्रशासनिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से जकड़ी जा चुकी थी और सांप्रदायिक आतंक का परचम भय की तरह समूची घाटी पर छा चुका था; तब अंततः प्रॉक्सीवार की कूटनीति के तहत पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवादी गुटों द्वारा भारतीय संघ के विरोधात्मक नकार का सीधे तौर पर नरम चारा बनाये गए कश्मीरी हिन्दुओं की इस विभीषक परिस्थिति में उनकी असुरक्षा, अविश्वास, डर, क्षोभ और अकेलेपन की मनोव्यथा (साइकी) का मार्मिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करती है। साम्प्रदायिक आतंक के बीच अल्पसंख्यक होकर जीने या मरने के स्नायविक तनावों में टूटने की पीड़ा को ‘पत्थर और धात का जमाना' कहानी में तसलीमा नसरीन के उपन्यास 'लज्जा' की तरह ज्यादा ठोस रुप में महसूस किया जा सकता है।

सन् 1989-1990 के दौरान सांप्रदायिक आतंक के वर्चस्व ने कश्मीरी हिन्दुओं को भारतीय संघ के नुमाइंदे के तौर पर उनकी जलावतनी का फ़रमान जारी कर 'निजामे मुस्तफ़ा' का ऐलान कर दिया था। जेकेएलएफ और हिजबुल मुजाहिद्दीन द्वारा योजनाबद्ध षड्यंत्र के तहत कई कश्मीरी हिन्दुओं की इस बर्बरता के साथ हत्याएँ की गईं कि घाटी में रह रहे अन्य हिन्दुओं के मन में अंदर तक दहशत व्याप्त हो जाए। गलियों, बौकों और जामा मस्जिदों से गूंजते नारों-

"यहाँ क्या चलेगा निज़ामे मुस्तफ़ा"

"भारती कुत्तों-वापस जाओ"

"आईने हिन्द - मंजूर नहीं, मंजूर नहीं"

"हम क्या चाहते आजादी!"

"इस्लाम-जिंदाबाद"[2]

के बीच कश्मीरी हिन्दुओं की जलावतनी का फ़तवा जारी किया जाना और केंद्र एवं स्थानीय प्रशासन की उदासीनता ने मिलकर इस पूरे जनसमुदाय को अपने जेनोसाइड का मात्र निरीह विक्टिम बना दिया।

इसके बावजूद जिन कुछेक कश्मीरी हिन्दुओं ने इस असहाय स्थिति में भी घाटी न छोड़ने और वहीं रहने का साहस दिखाया उनकी इस बची-खुची जिजीविषा पर भी पूरे दशक के दौरान कुठाराघात किया गया- अगस्त, 1993: डोडा में 15 कश्मीरी हिन्दुओं की हत्या; मार्च, 1997: संग्रामपोरा में 7 कश्मीरी हिन्दुओं की हत्या: जनवरी, 1998: वन्धमा में 23 कश्मीरी हिन्दुओं की हत्या: 2002: काशिम नगर में 29 कश्मीरी हिन्दुओं की हत्या; मार्च, 2003: नादिमर्ग में 23 कश्मीरी हिंदुओं की निर्मम हत्याएँ...।[3] परिणामतः 1990 के दशक के पहले जिन कश्मीरी हिन्दुओं की आबादी कश्मीर में लगभग 5-6 प्रतिशत (लगभग 2.5-5 लाख) थी वही 1990 का दशक समाप्त होते-होते मात्र 0.1 प्रतिशत के करीब (3000-3500) रह गई। कश्मीर में अब वे एक दुखद स्मृति से ज्यादा कुछ नहीं रह गए हैं। संजना कौल की यह कहानी सांप्रदायिक आतंक के बीच अल्पसंख्यक कश्मीरी हिंदुओं की संत्रासपूर्ण मनोव्यथा का यथार्थ और नग्न चित्र हमारे मानसपटल पर उकेरती है। भय, असुरक्षा, अविश्वास, क्षोभ, अवसाद जैसे शब्द अवधारणात्मक स्थापनाओं के रूप में नहीं बल्कि एक समूचे अल्पसंख्यक समुदाय की हक़ीकत बनकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इन शब्दों के सही मायने और उनके पीछे छिपी पीड़ा के अजस्त्र दंश को हम तटस्थ लोग क्या महसूस भी कर सकते हैं?[4]-

"Sometimes words can be daunting,

other times they're just haunting.

Some words are loosely used

yet you KNOW they could NEVER apply to you"[5]

- Payyton Egerstaffer

कहानी की शुरुआत होती है इंदु से जो कि स्थानीय महाविद्यालय में प्राध्यापिका है। इंदु के पिता किशनलाल को मिले सांप्रदायिक गुटों द्वारा भारत विरोधी प्रचार के तहत बांटे जा रहे पैम्पलेटों से, जिनमें तलवार की मूंठ थामे मुजाहिद अल्लामा इक़बाल के इस सांप्रदायिक शेर का ऐलान करता दिखाई दे रहा है-

आ तुझको बता दूं मैं तकदीरे उमम क्या है

शमशीरो सिना अव्वल ताउसो रबाब आखिर[6]

घाटी की सामासिक फ़िज़ा में घोले जा रहे साम्प्रदायिकता के इस ज़हर और उनके भावी मंसूबों पर जहाँ इंदु क्रोध और क्षोभ प्रकट करती है वहीं भाईचारे के बीच अपनी ज़िन्दगी बिताने वाले, कश्मीरियत और मानवीय मूल्यों में विश्वास रखनेवाले किशनलाल जी को मौसम की बदली इस तासीर पर यकीन करना दूभर और आश्चर्यपूर्ण लगता है -

"अरे नहीं सब पागलपन है। इन सालों के हाथ में हो तो कश्मीर में एक और पाकिस्तान बनाकर ही दम लें। लेकिन लड़ कर नहीं। कश्मीर को तो आप प्लेट में सजाइए और ऊपर से चिपका दीजिये चाँदी का वर्क। फिर इन्हें पेश कर दीजिये कि लीजिये हुज़ूर, कश्मीर हमने आपको तोहफे में दे दिया। बस, बात बन जाएगी। शमशीर या बीं उठाना इनके बस का नहीं है।"[7]

लेकिन 1990 के दशक के दौरान हर आम कश्मीरी की तरह किशनलाल का भी आदर्शवादी भ्रम तार-तार हो गया। लम्बे समय से रिसता घाव अब नासूर बन चुका था। हर तरफ निजामे मुस्तफा के तथाकथित मुजाहिदों के जुलूसों का शोर गूँजने लगा, सभ्यता की आदिभूमि क्लाशनिकोव, डिटोनेटर, माल्टोव कॉकटेल, जिलेटिन फ्यूज, मोर्टार और लाशों की रक्तरंजित बर्बरता से सहम उठी। यूँ तो जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय से पहले और उसके बाद भी हमेशा ही एक न एक परजीवी सांप्रदायिक धड़ा देश विरोधी रुख अपनाए हुआ था। चाहे वह 1931 के दंगों में मुस्लिम कॉन्फ्रेंस का सांप्रदायिक नेतृत्व हो या आजादी के बाद अंतरराष्ट्रीय मंचों और पाकिस्तान की शह में पनपा प्लेबिसाइट फ्रंट अथवा 1990 के दशक में राजनीतिक अस्थिरता और मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट की आम विधानसभा चुनाव में हार को कश्मीरियों की स्वतंत्रता और अधिकारों को छीने जाने का छद्म प्रतीक बना कर पाकिस्तान द्वारा खड़े किए जेकेएलएफ और हिजबुल मुजाहिद्दीन जैसे आंतकवादी गुट। लेकिन वर्ष 1989-1990 में पहली बार इन सांप्रदायिक गुटों द्वारा तथाकथित आजादी और भारतीय संघ के बहिष्कार का सीधा निशाना बनाया गया कश्मीरी हिन्दुओं को। जिससे भारत को यह स्पष्ट संदेश पहुंचे कि कश्मीर में पाकिस्तान की शह पर निजामे मुस्तफा कायम होकर ही रहेगा-

...कई नौजवान किनारे खड़े दरिया के आर-पार पाकिस्तान और आज़ाद कश्मीर के झंडे तान रहे थे। इंदु ने बिस्तरा छोड़कर देखा तो उसकी आँखें फट गई। उसने धीरे से पिता को जगाया, "पापाजी, दरिया के ऊपर झंडे ताने जा रहे हैं।" किशनलालजी उठकर खिड़की के पास खड़े हो गए और स्तब्ध रह गए। अपनी आधी से ज्यादा उम्र उन्होंने कश्मीर में बितायी थी। कश्मीर की खूंखार राजनीति के चश्मदीद गवाह थे। लेकिन यह सब देखकर वे जड़ से हिल उठे। अख़बारों की भयानक खबरें! कश्मीरी हिन्दुओं की कश्मीर छोड़कर देश के अन्य हिस्सों में शरण! मास एक्सोडस![8]

हिंदी के कई मुस्लिम लेखकों राही मासूम रज़ा (आधा गाँव : 1966), शानी(काला जल : 1965), बदीउज्जमा (छाको की वापसी 1975), मंजूर एहतेशाम (सूखा बरगद : 1986), अब्दुल

बिस्मिल्लाह (अपवित्र आख्यान: 2007), अनवर सुहेल (पहचान: 2009), बादशाह हुसैन रिज़वी (मैं मुहाज़िर नहीं हूँ: 2009) इत्यादि ने मुल्क के बँटवारे के पश्चात भारतीय परिवेश में साम्प्रदायिकता और अलगाव के जो बंद प्रकोष्ट बनते गए, उसने कैसे इस अल्पसंख्यक समुदाय को असुरक्षा और अलगाव की भावना दी एवं तेजी से अल्पसंख्यक होने एहसास दिलाया जैसे कई मुद्दों को अपने अल्पसंखपक विमर्श में उठाया है। इसी प्रकार संजना कौल की कहानी "पत्थर और धात का जमाना" न केवल अल्पसंख्यकों के असुरक्षाबोध का यथार्थ अंकन करती है अपितु आतंक और बंदूक की नोक पर कश्मीरी हिन्दुओं को अपने ही देश में निर्वासित किये जाने की विभीषिका की दारुण-कथा भी प्रस्तुत करती है। जिन कश्मीरी हिन्दूओं ने कश्मीरियत की सामासिक सांस्कृतिक विरासत और आदर्श में विश्वास करते हुए जनवरी, 1990 के बाद भी कश्मीर में रहने का निर्णय किया था उन्हें किस यंत्रणापूर्ण मनोव्यथा से गुजरना पड़ा, इस कहानी का मूल कथ्य है। इंदु एक महिला महाविद्यालय में इतिहास की प्राध्यापिका है। उसे रोजाना कर्फ्यू, शिनाख्त परेड, कैकडाउन, सेना और मिलिटेंटों की मुठभेड़ों और साम्प्रदायिक फतवों के बीच कॉलेज जाना पड़ता है। इतना ही नहीं कॉलेज में जहाँ एक तरफ कुछ अवसरवादी अध्यापिकाओं द्वारा स्टाफ और छात्राओं के जेहन में सांप्रदायिक और जिहादी ज़हर घोला जा रहा है और छात्राओं को शिक्षा की जगह भारत-विरोधी तथा आतंकवादियों की मातमपुर्सी में निकाले जा रहे जुलूसों में शामिल होने के लिए उकसाया जाता है -

" 'मैडम, लड़कियों को छोड़ दीजिये। 'बुर्का पहने एक लड़की ने निहायत दीठता से कहा। 'मैडम, आज क्लासों का बॉयकॉट होना है। हमें जुलूस में जाना है।"[9]

"जानते हो असरार? मेरे लैक्चर वाहियात हो गए हैं। क्लास में किसी लड़की की तरफ देखने की हिम्मत नहीं होती है। डर लगता है, कहीं मुँह से कुछ ऐसा वैसा निकल गया तो किसी लड़की का भाई या रिश्तेदार मुझे गोली मार देगा या उठाकर ले जायेगा। यह मुझे क्या हो गया है असरार ?" [10]

तो दूसरी तरफ उस विद्यालय में इंदु एकमात्र हिन्दू कर्मचारी रह गयी है क्योंकि उसके सभी हिन्दू साथियों ने जलावतनी का फ़रमान स्वीकार कर लिया था (और दूसरा कोई मार्ग उनके सामने नहीं था) -

"जवाहर भाई ने बेवजह पसीना पोंछा और फुसफुसाए, देखो मैं कल सुबह कश्मीर छोड़ के जा रहा हूँ। मुझे चिट्ठी मिली है। मैं इन लोगों के हाथों कुत्ते की मौत नहीं मरना चाहता। बस बहुत हुआ। वे हाँफ गए। ...उसकी छोटी बुआ के बेटे जवाहर साथ के कॉलेज में पढ़ाते थे और कॉलेज के बाद कॉफी हाउस में बैठकर दुनिया जहान की बातें करते थे। इंदु को उनकी बातें सुनना अच्छा लगता था। आज उनकी बातों से लगा, वे बुरी तरह लड़खड़ा गए थे।"[11]

जब राजनीति के धर्म पर धर्म की राजनीति हावी हो जाती है तब कट्टरता, संकीर्णता, विद्वेष और विघटन का जन्म होता है।[12] 1990 के दौरान कुछ ऐसा ही मंजर कश्मीर में प्रशासन से लेकर शिक्षा व्यवस्था तक पूर्णतः व्याप्त हो चुका था। इस आतंक की विभीषिका से जूझती इंदु के एकाकीपन निस्सहायता, अविश्वास, असुरक्षा और उपेक्षा की मनोव्यथा की भयावह दृश्यावलियां प्रस्तुत करते हुए लेखिका ने एक पूरे अल्पसंख्यक समुदाय के साथ हुए अन्याय और उनकी सफरिंग का यथार्थ हमारे सामने रखा है –" कॉलेज जाती थी इंदु और उसे अपने आप पर आश्चर्य होता था कि वह इतनी खामोश भी रह सकती है। उसे बार-बार लगता था, वह किसी अनजाने शहर में अजनबी लोगों के बीच आ गयी है। यही समझ में नहीं आता था की क्या बोले ? साफ़गोई से काम लेकर ख़तरा मोल ले या अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए उन लोगों की हाँ में हाँ मिलाये जिनकी बातें मानने को वह कभी तैयार नहीं होगी। उसे लगता था, उसे बेरहमी से हाशिये पर धकेल दिया गया है। "[13]

कश्मीर में कश्मीरी हिन्दुओं की स्थिति कई सारे प्रचारात्मक छलावों के बाद भी 1990 की बर्बता के ज़माने से आगे नहीं बढ़ पाई है। अक्टूबर, 2021 में श्रीनगर के एक विद्यालय में अध्यापक दीपक चंद्र और प्रधानाचार्या सुपिंदर कौर की दिनदहाड़े सांप्रदायिक आतंकवादियों द्वारा की गयी निर्मम हत्या इस सच्चाई की मर्मान्तक प्रमाण है।

इस नृशंस और असहाय माहौल में कश्मीरी हिन्दुओं की आहत जिजीविषा कब तक और कहां तक संघर्ष कर पाती: चार लोगों का मुकाबला सौ से, सिर्फ काल्पनिक फिक्शनों तक ही सीमित होता है असल जिन्दगी में नहीं। वह भी तब जब प्रतिपक्ष को हिंसात्मक कृत्यों की खुली छूट हो। आख़िरकार कश्मीरी हिन्दुओं ने परिस्थितियों से हार कर के अपनी मातृभूमि, संस्कृति, आस्थास्थलों और वितस्ता के किनारे बसाये गए नीड़ों से चिरकालीन विदा ली -

निर्वासित हूँ... मैनें चुना सम्मान से जीना... हथियार न उठाना। मैं आज निर्वासित हूँ... क्योंकि पूरा संसार चुप रहा... महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे। मैं आज निर्वासित हूँ... क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था।[14]

सांप्रदायिक निष्कासन ने कश्मीरी हिन्दुओं को सिर्फ कड़वी यादें दीं और सामासिक कश्मीरियत की विरासत को अंतिम रूप से ध्वस्त कर दिया। अपने लोगों की नृशंस हत्याओं, बसे बसाये घरों की जलती तस्वीरों, ध्वस्त आस्था-स्थलों के खंडहरों और शरणार्थी कैम्पों की नारकीय दुर्दशा की यंत्रणाओं ने इन निष्कसितों के सदियों से संजोए मानवता, सहिष्णुता, सहअस्तित्व और भाईचारे के मूल्यों को झूठा साबित कर दिया और इनमें भी साम्प्रदायिक दुराव का विषारोपण किया। जब एक बहुसंख्यक समाज द्वारा साम्प्रदायिक उत्पीड़न के आधार पर एक अल्पसंख्यक समुदाय में डर, अविश्वास एवं असुरक्षा की भयावहता का आतंक भर जलावतनी के लिए मजबूर किया जाए और लोकतांत्रिक देश

में राजनीतिक तुष्टीकरण के चलते समस्त घटनाक्रम को मात्र बाह्य षड्यंत्र मानकर नजरअंदाज किया जाए तो लाज़मी है कि वह अलपसंख्यक समुदाय इस अन्याय और असहायता की स्थिति में प्रतिक्रियाशील हो जाए। इस विद्रूप सांप्रदायिक वैमनस्य को न तो हम तथाकथित पंथनिरपेक्ष कैनन से देख सकते हैं और न ही सामासिक सांस्कृतिक समीकरण के माध्यम से समझ सकते हैं। कश्मीरी हिन्दुओं के निर्वासन की त्रासदी के निष्पक्ष स्पष्टीकरण के लिए एक स्वस्थ दृष्टि की आवश्यकता है जिस पर रंगीन चश्मे न चढ़े हों। किस प्रकार एक निरीह व्यक्ति को कम्युनल बनाया जाता है, लेखिका ने बड़े ही सरल शब्दों बयां किया है -

"उसे अचानक सुशील याद आया जो उसी के साथ पढ़ता था। इंदु के ग्रुप में सबसे बड़ा स्वप्नदर्शी शायद वही था और एक हद तक इंदु के प्रति आकर्षित भी। कश्मीर से चले जाने के बाद वह भयानक रूप से आस्थावान हिन्दू बन गया था। अब उसे इंदु से ज़्यादा कश्मीर में जलाए गए मंदिरों की याद आती थी।[15]

यहाँ अनायास ही तस्लीमा नसरीन के उपन्यास 'लज्जा' का अल्पसंख्यक हिन्दू नायक सुरंजन याद आता है : उसकी असहायता, छटपटाहट और यंत्रणा याद आने लगती है -

"उसे क्यों अपना घर छोड़कर भागना पड़ता है, कमाल को तो भागना नहीं पड़ता? यह देश जितना कमाल का है ठीक उतना सुरंजन का भी। नागरिक अधिकार दोनों के समान होने चाहिए। लेकिन कमाल की तरह वह क्यों सिर उठाकर खड़ा नहीं हो सकता। वह क्यों इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैं भी इसी मिट्टी की संतान हूँ, मुझे कोई नुकसान न पहुँचे।... 'मैं इसी तरह का समाधान चाहता हूँ। मैं अपने हाथ में भी कटार, तलवार और पिस्तौल चाहता हूँ। वे लोग पुराने ढाका के एक मंदिर में पेशाब कर आये थे न? मैं भी उनकी मस्जिद में पेशाब करना चाहता हूँ।'ओह सुरंजना तुम कम्युनल होते जा रहे हो' 'हां, मैं कम्युनल हो रहा हूँ। कम्युनल! कम्युनल हो रहा हूँ।'... मुझे मुसलमानों ने मनुष्य नहीं रहने दिया। हिन्दू बना दिया।[16]

1989-1990 में लगभग चालीस से पचास साम्प्रदायिक आतंकवादी गुट कश्मीर में सक्रिय थे- जेकेएलएफ, हिज्बुल मुजाहिद्दीन, ऑपरेशन बालाकोट, अल-खोमैनी इत्यादि।[17] जिनका एक मात्र मोटिव था कि कैसे अधिक से अधिक कश्मीरी मुस्लिमों को मज़हब के नाम पर अपने साथ शामिल किया जा सके और प्रशासन एवं समाज को अपने नियंत्रण में लेकर अपना और अपने आकाओं का उल्लू सीधा किया जा सके। 1987 के विधानसभा के चुनावों में हुई अनियमितता ने इन गुटों को खुलकर सामने आने का अवसर प्रदान किया। स्थानीय प्रशासन से निराश और बेरोजगार कम उम्र के मुस्लिम नौजवानों को अल्लाह और पैसे एवं बेहतर जिन्दगी का लालच देकर सीमा पार भेजकर उन्हें वहशी मिलिटेंट बनाना इन गुटों के लिए इस माहौल में कोई मुश्किल काम नहीं था। लेखिका ने कहानी में

मिलिटेंट शकील और उसके साथियों से इंदु की बहस के माध्यम से इस पहलू पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही इन भटके हुए नौजवानों के अंधकारमय मुस्तक़बिल के प्रति लेखिका चिंतित और दुःखी दिखाई पड़तीं हैं-

"लम्बे लड़के ने जाने से पहले फिर इंदु की तरफ देखा," यह तो हम ही जानते हैं हमारे साथ क्या हुआ। सारी स्टूडेंट लाइफ बरबाद हो गई।" इन भोले-भाले खुश मिज़ाज लड़कों को किस तरह लोगों ने अपराधियों में बदल डाला। कितनी चालाकी से जुर्म किसी ने किया था और सज़ा किसी और को मिल रही थी। उसे शकील की बातें याद आ गईं। उस दिन वह कॉलेज के किसी काम से आया था तो इंदु ने आजादी की माँग को लेकर छेड़ दिया। शकील ने बड़ी संजीदगी से कहा, 'देखो, दीदी। इतना तय है कि न तो आप लोग पाकिस्तान में रह सकते हैं और न हम हिंदुस्तान में रहने वाले हैं। आज़ादी हमारा हक है और हम लेकर रहेंगे। "जिस तरह वह रटी हुई बात को दोहरा रहा था, इंदु को हंसी आ गई।"[18]

कहानी का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है कश्मीरी मुस्लिमों का कश्मीरी हिन्दुओं के प्रति व्यवहार' का सूक्ष्म अंकन। कहानी में दो तरह के मुस्लिम पात्र हैं-पहले तरह की पात्र है शमीम, जो उन कुछेक मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाले मुस्लिम लोगों की प्रतिनिधि है जो कश्मीरियत के भाईचारे की परंपरा को बचाए रखने के लिए प्रतिबद्ध हैं। लेकिन उस सांप्रदायिक आतंक के बीच न तो ये खुले तौर पर इस्लाम के नाम पर खेले जा रहे मौत के खेल का प्रतिरोध कर सके न ही कश्मीरी हिन्दुओं को सुरक्षा और विश्वास का सहारा दे सके। ललद्यद और नुन्द ऋषि नरूद्दीन की पीढ़ी गाजियों और मुजाहिदों का का कहां तक सामना कर पाती। अंततः अपनी और अपने परिवार की खातिर इन्हें भी निजामे मुस्तफा के निजाम में गलियों, चौकों और जामा मस्जिदों से निकलते जुलूसों में लाखों कश्मीरियों की तरह गुम हो जाना स्वीकार करना पड़ा। दूसरे तरह के मुस्लिम पात्र वे हैं जो सौहार्द, भाईचारे, मानवता और कश्मीरियत के क़सीदे तो खूब पढ़ते नजर आते थे, मगर थे आस्तीन के सांप ही। अपने स्वार्थ की खातिर आतंकवादियों की दलाली करना, कश्मीरी हिन्दुओं और सेना की मुखबिरी करना ही इनका वास्तविक चरित्र था। शमीम इनके चारित्रिक यथार्थ पर बड़ी सटीक टिप्पणी करती है -

"जानती हो न इंदु ! क्या कहते हैं लोग? पहले हमारी लाश गिरेगी, तब आपका बाल बांका होगा। कितनी मक्कारी। तुम इतना ही याद रखना कि जो कुछ हो रहा है उसमें तुम अकेली नहीं हो।" [19]

अंततः इंदु को भी यह कटु यथार्थ स्वीकारना पड़ता है - "इतना तय है कि कश्मीर अब मेरा होमलैंड नहीं रहा।" उसने आंसू पोंछकर कहा।"[20] संजना कौल की कहानी 'पत्थर और धात का जमाना' इसी टूटे हुए विश्वास और निष्कासित कश्मीरी हिन्दुओं के भावी असुरक्षित, उपेक्षित और अनिश्चित जीवन पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए समाप्त होकर हमारे सामने एक बड़ा सवाल खड़ा करती है कि क्या कोई विकल्प है इस पत्थर और धात के ज़माने का -

KASHMIR

Can you hear it too,

the beating of her heart?

Everything burnt away years ago

The fire alarm has been

ringing for decades

The sirens have been going on for months

The violence in the street

has aged beyond its expiry date

The young ones have long finished their last supper

The bulbul now only sings the death song

But her homes breathe Something in her still life. [21]

सन्दर्भ ग्रन्थ

स्रोत ग्रंथ-

1-'फ्रॉम होम टू हाउस, पृ.7

2 कौल, संजना, काठ की मछलियाँ, पृ.24

3-पंडिता, राहुल, अवर मून हैज ब्लड क्लॉट्स, पृ. 256

4-गुहा, रामचंद्र, भारत: नेहरू के बाद, पृ.326

5-श्रीवास्तव, गरिमा, देह ही देश, पृ. 19

6-कौल, संजना, पृ. 24

7-वही, पृ. 24

8-कौल, संजना, पृ. 25

9-कौल, संजना, पृ. 27

10 वही. पृ. 33

11-"वही, पृ. 28

12 पाण्डेय, मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, पृ. 77

13 कौल, संजना, पृ. 26

14 कुलश्रेष्ठ, मनीषा, शिगाफ़, पृ. 29

15 कौल, संजना, पृ. 29

16 नसरीन, तसलीमा, पृ. 5,139-140

17-जगमोहन, अशांत कश्मीर, पृ. 276

18 कौल, संजना, पृ. 30

19 कौल, संजना, पृ. 34

20 वही, पृ. 33

21- किचलू, आकिफ़, डिस्मैंटलिंग जम्मू एंड कश्मीर, पृ.130

सहायक ग्रंथ-

1. गीगू, अरविन्द (सम्पा.), 'फ्रॉम होम टू हाउसः राइटिंग ऑफ कश्मीरी पण्डित्स इन एग्ज़ाइल', प्रथम संस्करण (नई दिल्ली: हार्परकॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया, 2015)

2. कौल, संजना, 'काठ की मछलियां', प्रथम संस्करण (चंडीगढ़ युनिस्टार बुक्स, 2008)

3. पंडिता, राहुल, 'अवर मून हैज ब्लड क्लॉट्स', प्रथम संस्करण (गुड़गांव : पेंगुइन रैंडम हाउस, 2013)

4. गुहा, रामचंद्र, "भारत: नेहरू के बाद', प्रथम संस्करण (गुड़गांव: पेंगुइन बुक्स, 2012)

5. श्रीवास्तव, गरिमा, 'देह ही देश', प्रथम संस्करण (दिल्ली: राजपाल एंड संज, 2017)

6. नसरीन, तसलीमा, 'लज्जा', मुनमुन सरकार (अनु.), प्रथम संस्करण (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन)

7. जगमोहन, 'अशांत कश्मीरः चुनौतियाँ और समाधान', ओ.पी. झा (अनु.), प्रथम संस्करण (नई दिल्ली: एलायड पब्लिशर्स, 2013)

8. कुलश्रेष्ठ, मनीषा, 'शिगाफ़', प्रथम संस्करण (नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2010)

9. राव, नेल्लोर नरसिम्हा (सम्पा.), 'डिस्पैंटलिंग जम्मू एंड कश्मीर', प्रथम संस्करण (हैदराबाद : प्रजाशक्ति बुक हाउस, 2019)

10. पाण्डेय, मैनेजर, 'उपन्यास और लोकतंत्र', प्रथम संस्करण (नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2013)

11. कौल, संजना, 'पाषाण युग, प्रथम संस्करण (पंचकूलाः आधार प्रकाशन, 1998)

विनीत पांडेय,

शोधार्थी, जे.एन.यू.॥

(शोध आलेख)

नागार्जुन की पक्षधरता

डॉ. धीरेन्द्र कुमार

नागार्जुन प्रगतिशील हिंदी कविता में सर्वाधिक जन-पक्षधर और मुखर कवि हैं। प्रगतिशील हिंदी कविता के परिसर में जिन चंद कवियों को शामिल किया जाता है, उनमें नागार्जुन की कविता एकदम भिन्न है। इसका कारण है कि नागार्जुन ने अपनी कविता में गैर किस्म की काव्यात्मकता को नहीं अपनाया। उन्होंने कविता में आम आदमी के बोलों को सहज स्वीकार किया। वास्तव में नागार्जुन की यह स्वीकार्यता ही उन्हें दूसरे कवियों से भिन्न करती है। वह जीवन भर जिस सादगी के साथ जीते रहे, उसे ही उन्होंने कविता में साकार किया।

नागार्जुन की कविता अपने समय और समाज की बदलती हुई परिस्थिति का मुकम्मल दस्तावेज़ है। नागार्जुन का यायावरी स्वभाव एंव प्रकृति ही ऐसी है जो उन्हें देश दुनिया की जानकारी देती है। वह लगातार यात्रा करते रहे। वह भारत और भारत के बाहर के भूभाग की कई यात्रा करते हैं। चाहे वह श्रीलंका से तिब्बत हो या कश्मीर से काठियावाड़ हो, मिथिला के 'रूचिर' भूभाग से लेकर 'मुलुंड', 'वितस्ता' हो या 'अमल धवल गिरि के शिखरों से लेकर 'मानसरोवर' के स्वर्णिम कमलों तक की यात्रा हो वही दूसरी ओर मार्क्सवाद की विचारधारा हो या किसानों के लिए आन्दोलन, गरीब, मजलूमों के लिए बदलाव की बयार के लिए क्रान्ति का स्वप्न हो या आन्दोलनों में आम आदमी के शरीर पर पड़ती लाठियों की पीड़ा हो, सत्ता परिवर्तन के लिए प्रतिकार के नारे हों या जेल की सलाखों की यात्रा हो, भारतीय बौद्ध दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन से लगाव हो या अपनी परम्परा के गौरव की नवीन व्याख्या हो, नागार्जुन की कविता में इन सबकी गूंज सुनी जा सकती है।

नागार्जुन की कविता अपने समय और समाज की कीमियागीरी नहीं है अपितु अपने देश के यथार्थ की सच्ची तस्वीर है। वह देश की वास्तविक उथल-पुथल की प्रतिनिधि है। हिंदी कविता में कबीर के बाद नागार्जुन ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने समय और समाज को प्रखर रूप से प्रकट किया है। नागार्जुन का समाजबोध अपने समय के युगबोध के साथ तादाम्य स्थापित करता है। उनका कवि हृदय अपने समय के यथार्थ से वास्तविक रूप से जुड़ा हुआ था।

नागार्जुन के विशेषज्ञ अजय तिवारी का मानना है- "नागार्जुन सामाजिक परिवर्तन के लिए चलने वाले हर अभियान का स्वागत करते हैं, कहीं भटकते हैं, लेकिन आमतौर पर अपने विवेक को जागृत रखते हैं। नक्सली युवकों के संघर्ष के प्रति उनकी सहानुभूति का भाव है।... नागार्जुन सामाजिक परिवर्तन में श्रमिक जनता की संगठित और सचेत भूमिका को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। हिंसा-अहिंसा में

एकान्ततः किसी को एक मानने वाले भाववाद का खंडन करते हैं, जनता के हित को सामाजिक परिवर्तन की एकमात्र कसौटी मानते हैं, ये बातें उनकी कविताओं में धूप की तरह साफ है।"[1]

नागार्जुन वास्तविक अर्थों में जनकवि थे। वह आवाम की आवाज को सदैव मुखर होकर उठाते रहे और राजनीति के दुहरे चरित्र पर सवाल खड़े करते रहे। इसलिए उनकी कविता में जनता की पुकार है-

"जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतालऊँ,

जन कवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ।"[2]

वह जनकवि थे। इसलिए विद्वानों ने उनको आधुनिक कबीर की संज्ञा से विभूषित किया। वह लिखते

"रोता हूँ लिखता जाता हूँ,

कवि को बेकाबू पाता हूँ।"[3]

या

"क्या है दक्षिण क्या है वाम,

जनता को रोटी से काम"[4]

नागार्जुन की जन-संघर्ष में अडिग आस्था थी। उनकी कविता का जनता से गहरा लगाव है। वह कविता में एक न्यायपूर्ण समाज का ख्वाब देखते हैं। इनकी काव्याभिव्यक्ति का ढंग जितना तिर्यक है वह उतना ही ठेठ एवं सीधा है। वह जितने अपनी तिर्यकता में बेजोड़ हैं वाग्मिता में उतने ही विलक्षण हैं। उनका काव्य विभिन्न काव्यरूपों को इस्तेमाल करने में सक्षम हैं। उनके पास राजनैतिक व्यंग्य करने की अद्भुत आँख थी। जिसके चलते उन्होंने अपने प्रिय राजनेताओं को भी नहीं बक्सा। नागार्जुन के काव्य में आम आदमी का दुःख दर्द, बदलता हुआ राजनैतिक परिदृश्य, प्रकृति-चित्रण के विविध आयाम, लोक जीवन की अनूठी गंध और प्रेम एवं सौंदर्यानुभूति की छाया जगह-जगह उभरती है। वह कविता में मिथकीय प्रतीकों का उदात्त रूप में प्रयोग करते हैं।

नागार्जुन के काव्य में वैविध्य होने पर भी व्यंग्य की सूक्ष्मता है, जो शायद उन्होंने कबीरदास से सीखी है। नागार्जुन ने अपनी आँख से जिस समाज को देखा है, उसमें दुःख-सुख, हर्ष-विषाद की छायाएँ पसरी हुई हैं। इसलिए नागार्जुन का दृष्टिकोण काफी साफ है। उसमें काव्य की दृढ़ता है और अर्थबोध की स्पष्टता भी-

"कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज?

कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरों से काज?

चाहिए किसको नहीं सहयोग?

यहाँ हर्ष-विषाद चिंता-क्रोध "[5]

नागार्जुन के काव्य में सामाजिक युगबोध की मार्मिक अभिव्यक्ति है। उसमें समाज के हर पहलू और अंतिम व्यक्ति के दुःख-दर्द की अनकही वाणी है। उन्हें समाज में व्याप्त विषमताएँ अखरती हैं, जिसकी असल पहचान उनकी कलम बताती है। नागार्जुन का मन समाज में नारी पर हो रहे अत्याचार और उसके शोषण को देखकर व्यथित है। इनकी 'तालाब की मछलियाँ', आओ प्रिय, आओ' कविताएँ आधुनिक नारी की छवि और समाज में व्याप्त वस्तुकारी मानसिकता पर प्रश्न खड़ा करती है-

"हम भी मछली, तुम भी मछली

दोनों ही उपभोग की वस्तु

ज्ञाता स्वाद सुधीजन, सजनी हम दोनों को

अनुपम बतलाते हैं।"[6]

दरअसल नागार्जुन की कविता सामाजिक यथार्थ के बहुकोणीय आयाम को प्रकट करती है। उनकी कविता में किसी भी विषय की एक परकता नहीं है। वह सिर्फ नारी के शोषण को ही प्रकट नहीं करते अपितु वह नारी अस्मिता के सरंक्षण को महत्त्व देते हैं।

आधुनिक हिंदी कविता में नागार्जुन ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रगतिशील विचार की कविताओं का मात्र सृजन ही नहीं किया अपितु उसे जिया है, उसे भोगा है। उनका सामाजिक युगबोध यथार्थवादी होते हुए सर्वहारा वर्ग, शोषित एवं उपेक्षित जनता और समाज की लाखों प्रताड़ित जनता के हक़ में आवाज बुलन्द करता है। इस जनकवि की सहानुभूति हर उस मजलूम जनता के साथ है जो विषम परिस्थितियों में जीवन की यात्रा ख़त्म करने पर मजबूर है।

देश में एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो पूंजीवादी व्यवस्था और सरकारी अनीतियों के कारण भूखा है, नंगा है, बेकारी और मेहंगाइ की मार से बिलख रहा है। वह रात-दिन मेहनत मजदूरी करके भी जीवन यापन के लिए दो जून की रोटी मयस्सर नहीं कर पाता। अजय तिवारी का मानना है, "सर्वहारा वर्ग के कष्टों तथा शोषक वर्ग के प्रति आक्रोश से नागार्जुन का समूचा काव्य ओतप्रोत है।"[7] दरअसल नागार्जुन का सर्वहारा वर्ग के प्रति सर्वाधिक लगाव है।

इसलिए उनकी कविताओं में कृषक, मजदूर, श्रमिक, रिक्शेवाला, अभावग्रस्त शिक्षक आदि के जीवन की तस्वीरें भरी पड़ी हैं। यही कारण है कि वे कविताओं में "साधारण जन की व्यथा को, धरती के दुःख को तथा देश की धरती में अंकित दंशों को उन्होंने बार-बार आकुल होते हुए चूमा सहलाया

और पुचकारा है।"[8] इसलिए उन्होंने भूख से मरते हुए सर्वहाराओं को उम्मीद के साथ लडने का आह्वान किया-

"भूखों मरते हों बच्चे तो यो ही मत रह जाओ,

आँते सूख रहीं हों तो आँसू मत वृथा बहाओ।

हाथ-पैर वाले हों नाहक कायर नहीं कहाओ,

कीड़ों और मकोड़ों जैसे यों मत प्राण गबाओ।"[9]

भारत का एक वर्ग श्रम करता है तो दूसरा वर्ग उस श्रम का उपभोग करता है। फिर भी लाखों श्रमिक दरिद्रता की जिंदगी जीने पर मजूबर हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था तंत्र ने इसे शोषण के महासागर में सदा के लिए धकेल दिया है। इससे निकलने की उसकी अनेक कोशिशें आज बेकार जा रही हैं।

नागार्जुन का काव्य आर्थिक तंगी में फंसे शोषित मजदूरों की कहानी है। उसमें अनेक रिक्शा चालकों के जीवन की सच्चाई है। आस्था के नाम पर गंगा नदी में फेंके गए पैसों को खोजने के लिए मल्लाहों के नंग-धडंग मासूम बच्चों के जीवन का अनकहा सच है। अभाव के कारण माँ-बाप की असहनीय विवशता की उभरी हुई सूरतें हैं-

"माँ बाप गरीब, न कर सकते प्रतिकार बहरेपन का,

सोचा होगा, पकड़ा देंगे कोई पथ जीवन यापन का,

बन सकती है वह चित्रकार,

ले सकती है वह नाच सीख,

जिससे न पड़े किसी पर भार,

जिससे न माँगनी पड़े भीख,

लेकिन बस तो यह सपना है,

चलता भी कुछ बस अपना है,

कैसा असहा, कितना जर्जर,

यह मध्यवर्ग का निचला स्तर।"[10]

विजय बहादुर सिंह के शब्दों में, "यथार्थतः नागार्जुन के यहाँ निम्न वर्ग या समूचा सर्वहारा वर्ग कविता का नायक है। रिक्शा खींचनेवाला, चटकल में काम करने वाला मजदूर, उच्चवर्ग का पुश्तैनी शिकार हरिजन और मछुआरा एवं महिला वर्ग जो वर्षों नहीं शताब्दियों से भारतीय समाज की गुलामी करने को विवश है, नागार्जुन के चरित्र नायक।"[11]

नागार्जुन की आत्मा मजलूमों के दुःख को देखकर अन्दर ही अन्दर सिसकती है। उनकी आँखें शोषण को देखकर रोती हैं। इसलिए वह शोषण को देखकर शोषकों के प्रति आवाज उठाते हैं। दरअसल नागार्जुन की कविता शोषित आवाम की आवाज बनकर उभरी है। वह दुनिया के तमाम शोषकों के खिलाफ है। वह शोषण को देखकर परेशान होते हैं। उस पर चीखते हैं और रोष प्रकट करते हैं। उस 'लुमुम्बा' कविता की पंक्तियाँ देखिए-

"शोषक की चक्की में जो जन पिसते हैं दिन-रात

जिनकी पीठों पर पड़ती है सदा लात ही लात

खेल रही है जिनकी पलकों से खारी बरसात

यहाँ वहाँ तुम करते थे उनके हित की बात।" [12]

या

"बीज नहीं है, बैल नहीं है, वर्षा बिन अकुलाते हैं

नहर रेट बढ़ गया, खेत में पानी नहीं पटाते हैं

नहीं भूमि में कनमा भर भी दाना उपजा पाते हैं

पिछला कर्ज चुका न सके, साहू की खिचड़ी खाते हैं

उतना ही फंसते, अपने को जितना अधिक बचाते हैं

भूखे रहकर, आधा खाकर दिन पर दिन दुबराते हैं।"[13]

नागार्जुन की कविता में सर्वहारा वर्ग का दर्द बोलता है। दुनिया के तमाम शोषित मजदूर किसानों की हूक बोलती है। इसलिए कवि धरती की कोख पर किसान मजदूरों के आधिपत्य की बात करता है। इस देश में किसान-मजदूर अन्नदाता है। वह श्रम की पूजा करता है लेकिन अर्थपूजा पूँजीवादी व्यवस्था के कब्जे में है। यही कारण है कि कवि को लगता है कि सम्पति का सामान बँटवारा हो-

"सेठ और जमींदारों को नहीं मिलेगी एक छदाम

खेत वान दुकान मिलें, सरकार करेगी दखल तमाम

खेत-मजूरों और किसानों में जमीन बंट जाएगी

नहीं किसी कामकर के सिर पर बेकारी मंडराएगी।" [14]

नागार्जुन की कविता में नौकरशाही के खिलाफ भी खुला विद्रोह है। सरकारी तंत्र किस प्रकार आम आदमी को हर रोज परेशान करता है। चौकीदार से लेकर बड़े-बड़े अफ़सर सब आम जनता की हिफ़ाजत के लिए नियुक्त किए जाते हैं लेकिन ये सब अपनी जेबें भरने और समाज के उच्च वर्ग के बचाव की भाषा बोलते हैं। इसलिए नागार्जुन की कविता आम जनता के हक़ में हुँकार भरती है। कवि को विश्वास है कि एक दिन जनता ही इनके कुकृत्यों को सबके सामने लाएगी-

"वतन फ़रोशी का न मिलेगा ठेका ठेकेदारों को,

सपने में भी क्षमा मिलेगी नहीं कभी हत्यारों को,

एक-एक कर कैद करेगी जनता रंगे सियारों को,

नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा होगा चूरमचूर

सुजला सुफला के गायेंगे गीत प्रसन्न किसान मजूर। "[15]

नागार्जुन आजादी के बाद जिस सपने को उभरता हुआ देखना चाहते थे, जब उसकी उभरती हुई सूरत उन्हें नहीं दिखी तो उनका मन रो पड़ा। वह भ्रष्ट नौकरशाही द्वारा ग्रामीण जीवन की दीन-हीन हालत को देखकर व्यथित हुए।

सरकारी तंत्र में दिनों दिन भ्रष्टाचार के बढ़ने और सरकारी योजनाओं का कागज तक सीमित रह जाने से आम आदमी के साथ बड़ा मजाक किया गया। आज भी हमारे देश की हालत ये है कि लाखों लोगों के पास खाने के लिए भोजन नहीं, तन ढंकने के लिए कपड़े नहीं हैं।

समाज में हत्या और अपराधियों की संख्या लगातार बढती जा रही है। इसलिए नागार्जुन जैसा विद्रोही कवि देश को नेताओं की गन्दी राजनीति से बचाना चाहता है-

"देश हमारा भूखा नंगा घायल है बेकारी से

मिले न रोटी-रोजी भर के दर-दर भरे भिखारी से

बदला सत्य, अहिंसा बदली, लाठी गोली डंडे हैं

कानूनों की सड़ी लाश पर प्रजातन्त्र ले झंडे हैं

निश्चय राज बदलना होगा शासन नेता शाही का।" [16]

अतः नागार्जुन का काव्य तत्कालीन समय के युगबोध और यथार्थ की मुकम्मल तस्वीर है। उसमें वर्तमान पीढी और उसकी समस्याओं पर गहरी चिंता है। उसमें राजनेता, पूंजीपति, सामंत, साहूकार और उच्च वर्ग के बर्बर कारनामों का चिट्ठा है।

सरकारी तंत्र का भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और नीतियों को ठीक से लागू न करने पर उसके चरित्र की कठोर शब्दों में निंदा है। यह जनकवि नागार्जुन का अपना अंदाज़ है। कबीर के बाद हिंदी में इतनें यथार्थवादी कवि नागार्जुन ही थे।

जिन्होंने तत्कालीन समय में आम आदमी की समस्याओं और समाज में व्याप्त विद्रूपताओं के खिलाफ खुलकर लिखा। वास्तव में ऐसी कविता नागार्जुन जैसा संवेदनशील जनकवि ही लिख सकता था। उनके काव्य में सच्चे अर्थों में तत्कालीन समय का युगबोध और यथार्थ प्रतिबिम्बित हुआ।

सन्दर्भ सूची

1. नागार्जुन की कविता- अजय तिवारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1998, पृ.सं.-71

2. नागार्जुन: प्रतिनिधि कविताएँ (सं.) नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1984, पृ.सं.-48

3. उपर्युक्त, पृ.सं.- 62

4. उपर्युक्त, पृ.सं.- 75

5. नागार्जुन का रचना संचयन-(सं.) राजेश जोशी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण: 2017, पृ.सं.-43

6. तालाब की मछलियाँ- नागार्जुन, अनामिका प्रकाशन, पटना, संस्करण: 1974, पृ.सं.-18

7. नागार्जुन की कविता - अजय तिवारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1998, पृ.सं.-71

8. मुक्तिबोध एवं नागार्जुन का काव्य दर्शन-डॉ. प्रभा दीक्षित, पृ.सं.-176

9. नागार्जुन : प्रतिनिधि कविताएँ- (सं.) नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1984, पृ.सं.- 48

10. तालाब की मछलियाँ- नागार्जुन, अनामिका प्रकाशन, पटना, संस्करण: 1974, पृ.सं.-1 21

11. नागार्जुन का रचना संसार- विजय बहादुर सिंह, संभावना प्रकाशन-हापुड़, संस्करण: 1982, पृ.सं.-140

12. प्यासी पथराई आँखें- नागार्जुन, अनामिका प्रकाशन, पटना, संस्करण: 1962, पृ.सं.-15

13. हजार हजार बाँहों वाली नागार्जुन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1981, पृ.सं.-51

14. नागार्जुन का रचना संचयन (सं.) राजेश जोशी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण: 2017, पृ.सं.-149

15. उपर्युक्त, पृ.सं.-149

16. हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि- डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, अष्टम संस्करण: 1990, पृ.सं.-460

डॉ. धीरेन्द्र कुमार की उच्च शिक्षा जेएनयू से है। यह वर्तमान में एमिटी विश्वविद्यालय नॉएडा (उ.प्र) में क़ानूनी हिंदी पढ़ाते हैं।

संपर्क : 174, प्रथम तल, गली नं-8, वजीराबाद, नयी दिल्ली-110084

ई-मेल : dhirukumar90@gmail.com

मोबाइल नं : 7053817725

(शोध आलेख)

अवधी लोकगीतों में व्यक्त लोकतात्विक संवेदना

अचला वर्मा

अवधी बोली परम पवित्तर कुल बोलनि के रानी

जेहिमा बोलनि आजा अइया जेहिमा नाना नानी

रातिउ दिन जेहिके रस चूसै ह्वैके कान पियासा

येहिका पियेंन दूध केरि साथ भरि-भरि रोज गिलासा।[1]

अवधी का लोक साहित्य अवध की वैविध्यपूर्ण माटी से उत्पन्न हुआ है। यह भारतीय समाज एवं संस्कृति की संवेदना का सच्चा संवाहक है। अवधी के लोक साहित्य के अंतर्गत विभिन्न विधाएँ मौजूद हैं जैसे- लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकगाथा आदि जो अवध की जीवनदृष्टि को अभिव्यक्त करती हैं। लोकतात्विक दृष्टि से अवध का लोक स्वयं में एक विराट संवेदना को सहेजता है। अवध की लोक संस्कृति भी बहुत सुन्दर एवं' सशक्त है। यहाँ पर्व, मेले, त्योहारों की अनूठी रिवायत दिखती है। संस्कृतियों के कई-कई रूप जैसे- गुड़िया पीटना, हाडा-हदाई खेलना, काल कलौटी खेलना, घरौंदा सजाना आदि कई त्योहारों पर मुख्य रूप से आयोजित होते हैं। इनके साथ ही हर तीज त्यौहार में गाने-बजाने की भी परम्परा है।

अवध प्रान्त की सोंधी महक बिखेरते अवधी के लोकगीतों की बात की जाये तो यह कहा जा सकता है कि इनका स्थान सम्पूर्ण विश्व में बेमिसाल है। अवधांचल के निवासियों की लोक वाणी जब लोकगीतों के माध्यम से स्फुटित होती है तब जनमानस के सम्पूर्ण रंग-ढंग दिखाई देते हैं। हालाँकि अवधी की शिष्ट साहित्यिक धारा भी पूर्णतया लोक धारा से अलग नहीं कही जा सकती, तथापि लोक साहित्य की परंपरा अधिक प्राचीन एवं भाषाई स्तर पर पूर्णतः ठेठ कलेवर में लिपटी हुई है। शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो अवधी लोकगीतों में शामिल न किया गया हो। यह महज संजोग नहीं है कि हिंदी साहित्य के दो सबसे श्रेष्ठ महाकाव्य गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' और मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' भी अवधी भाषा में ही लिखे गए हैं। यही नहीं भारत के दो प्राचीन महाकाव्यों 'महाभारत' एवं 'रामायण' की कथा भी इसी क्षेत्र पर आधारित है।

ध्यातव्य है कि अवधी भाषा अवध क्षेत्र की भाषा है। इसलिए इसे 'अवध की' या 'अवधी' कहकर पुकारा जाता है। अवधी भाषा हिंदी की समस्त विभाषाओं में सर्वाधिक विस्तृत भू-भाग में बोली जाती है। यह उत्तर प्रदेश के बीस जिलों में व्याप्त है, साथ ही मध्य-प्रदेश, छत्तीसगढ़ और

बिहार के कई जनपदों में भी। भारतवंशी बहुल राष्ट्रों- मॉरिशस, सूरीनाम तथा फिजी में इसका पर्याप्त प्रचलन है। कुल मिलाकर अपनी उपबोलियों को शामिल करते हुये अवधी भाषियों की संख्या लगभग सात करोड़ के आसपास बैठती है।

डॉ. बाबूराम सक्सेना के अनुसार अवधी की भाषाई सीमा का विस्तार इस प्रकार है "अवध क्षेत्र के उत्तर में हिमालय (नेपाल), पूर्व में भोजपुरी भाषी क्षेत्र, दक्षिण में बघेली व पश्चिम में बुन्देली और कन्नौजी के क्षेत्र हैं।"[2] इन्होंने अंत: स्थान-भेद के अधार पर पहली बार अवधी का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है-

- पश्चिम बोली- खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर
- केन्द्रीय बोली- बहराइच, बाराबंकी, रायबरेली
- पूर्वी बोली- गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर

अवधी ही नहीं अवध प्रान्त का इतिहास भी बहुत प्राचीन और दिलचस्प है। उत्तर वौदिक काल में इसे ब्रह्मर्षि देश या मध्य देश के नाम से जाना जाता था। तदनंतर मुगलों के वक्त इसे 'अवध' कहा जाने लगा। मध्य काल में अवध मुस्लिम शासकों के अधीन हो गया जिससे हिन्दू और इस्लाम धर्मो के संपर्क से नयी मिली-जुली संस्कृति का जन्म हुआ। अवध ने अपनी बौद्धिक उत्कृष्टता को ब्रिटिश शासन काल में भी बनाये रखा। यही कारण है कि न जाने कितने फारसी और उर्दू लफ़्ज़ों को भी अवधी ने अपने रूप में आत्मसात किया है।

अवधी का 'लोकसाहित्य' शब्द दो शब्दों के मिलन से बना है- 'लोक' और 'साहित्य'। यहाँ 'साहित्य' अपने प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त है जबकि 'लोक' शब्द विभिन्न एवं व्यापक अर्थ की अभिव्यंजना करता है। लोक साहित्य की विवेचना से पूर्व यहाँ 'लोक' शब्द की व्याख्या महत्वपूर्ण है।

'लोक' शब्द भारतीय वांग्मय में बहुत पहले से प्रयुक्त हो रहा है। यह शब्द संस्कृत भाषा के 'लोकदर्शने' धातु में 'धञ्' प्रत्यय को जोड़ने से बना है। अत: इसके मूल अर्थ पर विचार करें तो इसका अर्थ होगा- 'देखने वाला'। अर्थात 'लोक' जनसामान्य का वह वर्ग है जो अपने आसपास की स्थितियों पर सम्यक दृष्टि रखता है। लोक इसी विशेष जनसमूह का वाचक है।

अंग्रेजी में इसके लिए 'फोक' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तरह फोक लिटरेचर के लिए 'ग्राम साहित्य' का प्रयोग मिलता है। सामान्यतः यहाँ यह गौर करना ज़रूरी है कि 'लोक' शब्द 'ग्राम' का पर्याय नहीं माना जा सकता न ही 'ग्राम' से 'लोक' शब्द की समग्रता को समेटा जा सकता है। हालाँकि कुछ विद्वानों ने 'लोक साहित्य' को 'ग्राम साहित्य' कहकर ही संबोधित किया है जिनमें प.

रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी आता है। लेकिन इन विद्वानों के बाद हुए अध्ययन एवं प्रकाशन के क्रम में विद्वानों ने इस शब्द के प्रयोग की जगह 'लोक साहित्य' ही कहने पर जोर दिया।

ऐसा इसलिए भी है क्योंकि लोक शब्द पर क्षेत्रीय सीमाओं की बाध्यता नहीं रह गई है। अत: व्यापक दृष्टि से इस शब्द का अर्थ अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, अल्पसभ्य, अर्द्धसभ्य उस समस्त जनता के संदर्भ में लेना समीचीन होगा जो ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में रहते हैं साथ ही जिनके ज्ञान का आधार शिष्ट साहित्य नहीं है। स्पष्ट रूप से लोक साहित्य की धारा की विभिन्न शाखाएँ भी यहीं से निकलती है। यह जन सामान्य वर्ग या मानव समाज अपनी परंपराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों, अनुभूतियों, भावनाओं, रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कारों आदि के प्रति आस्थावान होते हैं।

जिस प्रकार भारतीय समाज एवं संस्कृति का विविध रूप देखने को मिलता है उसी प्रकार लोक साहित्य भी विविध विधाओं में विभाजित किया गया है। जो अन्य लोक भाषाओं के अतिरिक्त अवधी में पर भी लागू होता है।

- लोक कथा
- लोक गीत
- लोक गाथा
- लोकनाट्य
- प्रकीर्ण साहित्य

यदि हम लोकगीतों को छोड़ दें तो पाएँगे कि बाकी अन्य विधाएं गद्य साहित्य से संबंधित है। इनमें लोक गाथाएँ एक विशेष एवं विस्तृत कथानक को लेकर चलती हैं वहीं लोककथा में कथाएँ लघु रूप में रहती हैं और यह मनोरंजन के उद्देश्य से लिखी जाती हैं। लोकनाट्य में गीत-संगीत, नृत्य एवं अभिनेयता का सुभग संजोग होता है। अवध प्रदेश की मुख्य नाट्य-शैलियों की चर्चा की जाए तो रामलीला, रासलीला, नौटंकी, सांग हैं जो विश्व में प्रसिद्ध हैं। वहीं प्रकीर्ण साहित्य के अंतर्गत लोकोक्ति, मुहावरे, बुझौवल, सूक्तियाँ आदि आते हैं।

विधिवत रूप से लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगीतों का स्थान सर्वाधिक उल्लेखनीय है। लोकगीत सैद्धांतिक रूप से वह गीत होते हैं जिसका प्रधान तत्व गेयता है। जनसामान्य से इसका जुड़ाव सर्वाधिक होने के कारण लोकगीतों की प्रधानता एवं उपलब्धता स्वभाविक है। अवधी में इन गीतों की अधिकता इस बात का भी सूचक है कि अवध प्रदेश के लोग अपने लोकतात्विक मूल्यों से कितनी गहराई से जुड़े हुए हैं। तभी यह गीत अवध-क्षेत्र में प्रत्येक अवसरों, अनुष्ठानों, उत्सवों, ऋतुओं एवं शुभ कार्यों में गाए जाते हैं। लोकगीतों की परिभाषा देते हुए पं. रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं- "ग्राम गीत प्रकृति

के उदगार हैं । इनमें अलंकार नहीं केवल रस है। छंद नहीं केवल लय है। लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।"[3] वहीं डॉ. श्रीराम शर्मा का कहना है -"लोकगीतों को उनमें प्राप्त सहजता, रसमयता, मधुरता आदि गुणों के लिए जाना जाता है। इस प्रकार के गीतों से कोई साज-संवार नहीं होती। लोक कवि के कंठ से सहज रूप में स्फुटित होने के कारण छंद, अलंकार, वक्रोक्ति, चमत्कार आदि के लिए लोकगीतों में कोई स्थान नहीं होता।"[4]

लोकगीतों के विभाजन पर बात करें तो डॉ. सुरेश गौतम के अनुसार विषयवस्तु के आधार पर इन गीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाना युक्तिसंगत है - संस्कार गीत, धार्मिक गीत, ऋतुगीत, संगीत गीत, बालगीत, राष्ट्रीय, गीत, सांस्कृतिक गीत तथा अन्य गीत। जबकि डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है- संस्कारों की दृष्टि से, रसानुभूति की प्रणाली से, ऋतुओं और व्रतों के क्रम से, विभिन्न जातियों के प्रकार से तथा क्रिया गीत की दृष्टि से।

संस्कार गीतों की श्रृंखला बहुत विस्तृत है। इनमें अवध क्षेत्र में विवाह के अवसर पर अनेक प्रकार के शास्त्रीय एवं अलौकिक विधि विधानों का प्रयोजन किया जाता है। साथ ही इन सभी अवसरों पर शुभ गीत गाए जाते हैं। जिसमें मुख्य है- पेरी, भात, नाखून, तिलक, कलेवा, उबटन, तेल, हरदी, महावर, सुहाग, कलस धराई, द्वार-चार, भावर, जेवनार, गारी, कोहबर, बन्ना-बन्नी, नकटा, विदाई गीत, ज्योनार आदि। इनके व्यंजित अर्थ अत्यंत मार्मिक हैं।

लोकगीतों की श्रेणी में विवाह से संबन्धित गीतों में सर्वाधिक कारूणिक विदाई गीत है। भला खुसरो का लिखा यह मार्मिक गीत कैसे भुलाया जा सकता है जिसमें अवधी का पुट है-

काहे को ब्याहे बिदेस सुनु बाबुल मोरे

हम तो बाबुल तोरे बाग़ की कोइलिया कुह्कुत घर-घर जाऊँ

हम तो बाबुल तोरे बेला की कलियाँ जो माँगे चली जाऊँ..

भइया का दिहो बाबुल महला दुमेहला हमका परदेस

अरे लखिया बाबुल मोरे..[5]

लगन के दिनों में अवध की गलियों में बजने वाला लोकप्रिय गीत ह्रदय में उतर जाता है। विदा गीत का लड़की के हर एक भाँवर से उसके पराये होने का बोध कैसे कैसे कन्या और उसके परिजनों को द्रवित करता है देखा जा सकता है–

पहिली भाँविरी जवरे परी बाबा अबहूँ तोहारि

दूसरी भाँविरी जवरे परी बाबा अबहूँ तोहारि

..सातवीं भांवरी जवरे परी बाबा भई मैं परायी हो

बाबा हुई गई बिरानी हों[6]

लोक गीतों में लोक की झलक दिखती है । पितृसत्ता के प्रति आक्रोश, विदाई, वेदना, छेड़छाड़, हठ, मस्ती का स्वर इन गीतों में होता है । इन विषयों को लेकर अक्सरगीत गाए जाते रहे जिनमें महिलाओं की भागीदारी पुरुषों से ज्यादा होती थी । फाग, कजरी, सावन, चैत्र, चैता, होली, दिवाली, जन्मदिन, शादी ब्याह आदि इनके लिए प्रयोजन होते थे जिनपर गीत गाये जाते थे। चैता गीत का एक उदहारण इस प्रकार है-

चैत मासे चुंदरी रंगाये हो रामा

लाली रे लाली[7]

अवध के शाही परिवारों में, राजाओं, जमींदारों के यहाँ की प्रथा थी कि किसी ख़ुशी के समारोह में उस परिवार की मिरासिन (हर परिवार की बँधी खानदानी गानेवाली) आती थी । समारोह के एक सप्ताह पहले से ही महिलाएं बजाने वालों को लेकर आ धमकती थीं। साथ में वही सब बाजा-गाजा लेकर आतीं थी । उनका आवभगत भी बहुत सम्मानपूर्वक होता था । जाते समय उन्हें उनका नेक, अनाज, कपड़े और ख़ुशी से न्योछावर किये गहने-रूपये भी दिए जाते थे। एक सोहर गीत अक्सर गया जाता है-

उतारो सखी मोरे बननी की नजरिया

मेरे बननी को सेहरा सिहे

छपके में कगे हीरे लाल

साथ ही यह ध्यान रखा जाता था कि जब भी गाना शुरू हो उसमें सबसे पहले देवी गीत ही गाया जाए –

"घर माँ पधारो मोरी भवानी मैय्या

मोरे घर में पधारो मोरे मन में समाओ"

और मुस्लिम परिवारों में उसी तरह पहले दुआ गाई जाती थी । जैसे-

ख्वाजा मोरी नैया पार लगा दे

बिन मदद ख्वाजा पार न लागि

लोक गीतों को गाने वाले चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष उनकी परंपरागत साधना सच्ची-सीधी बातों में ही अभिव्यक्त होती है। बात जितनी खरी होती है भाषा उतनी ही सरल। ऊपर से स्वर उससे भी ज्यादा मधुर कि चाहकर भी सुनने वाला मंत्रमुग्ध हुए बिना रह ही नहीं सकता। हाट-चौपाल हों या घर-आंगन का चबूतरा, खेत-खलिहान की मेंड़ें हों या गाँव की बैठकी लोक जीवन की अनुगूँज ढोलक-मंजीरे की ताल से सुसज्जित होकर एकाकार रसमग्न ध्वनियों में उठती है। यह अवध देश की सच्ची धारा का श्रृंगार करती है।

अवध प्रभु श्रीराम की जन्मभूमि रही है। ज़ाहिर है यहाँ के गीतों में रामकथा का वर्णन एवं साम्य मिलना स्वाभाविक है। संस्कार गीतों एवं विवाह गीतों में वर-वधू को राम-सिया के समतुल्य ही बताया गया है। एक बनरा (बन्ना) गीत इस प्रकार है-

अवधपति का बनरा बड़ा पियारा

जाई बरतिया जनकपुर पहूँची, लाये मोतियाँ के हारा[8]

लोक गीतों में विरह का भी अत्यंत सुन्दर चित्रण किया गया है-

हमइं घानो रंग चुनरी रंगाई दे पिआ

बागा लगाइ दे बगइचा पिआ

ऊमा छोटा सा निबुला लगाइदा पिआ[9]

अवध प्रदेश में ऋतु गीतों में भी बहुत तरीके की विविधता पाई जाती है। बारहमासा उन गीतों को कहा जाता है जिसमें विरहिणी नायिका के वर्ष भर के बारह महीनों में अनुभूत कष्टों का वर्णन किया गया है। यह परंपरा भी अत्यंत प्राचीन है जिसका एक रूप हमें जायसी की पद्मावत में भी नागमती के विरह वर्णन के रूप में बारहमासा का चित्रण मिलता है। प्रियतम के वियोग में या विदेश चले जाने पर प्रियतमा का वर्षा शिशिर हेमंत ग्रीष्म एवं वसंत ऋतु में तथा वर्ष के प्रत्येक मास में जिन कष्टों का अनुभव होता है उन्हीं का वर्णन इस बारहमासा के अंतर्गत किया जाता है।

बारहमासा का प्रारंभ प्राय: आषाढ़ मास से होता है इसके बाद सावन, भादों, क्वार आदि महीनों में विरहणी के कष्टों का मार्मिक चित्रण किया जाता है। साथ ही प्रायः इसमें वियोग श्रृंगार का ही वर्णन मिलता है लेकिन कहीं-कहीं संयोग श्रृंगार का भी झलकता हुआ स्वरूप नज़र आता है-

मोरबा बोले सारी रात

रात पिया नींद न आवे

बाग़ भी बोले बगइचा भी बोले

आरे बोले निबुलवा के डारि

रात पिया नींद न आवे[10]

अवध में एक अन्य किस्म का गीत भी गाया जाता है जो विशेष रूप से वर्षा ऋतु में गाया जाता है। यह सावन कहलाता है एवं सहयोग इन दोनों ही प्रकार के गीतों में श्रृंगार के सहयोग एवं प्रयोग दोनों ही पक्षों का चित्रण बड़ी ही सूक्ष्मता से किया जाता है।

कजरी गीतों की मनमोहक सुगंध भी दूर-दूर तक प्रचलित है। इसकी खासियत है कि यह गीत सावन महीने में गाए जाते हैं और कजरी कहलाते हैं। झूला व ग्रामीण प्रकृति का चित्रण उत्तर प्रदेश में विशेषकर मिर्जापुर शहर में अधिक प्रचलित है। कजरी का एक उदहारण देखिये-

'मैं पानी भरइ जाँऊं स्याम मारइ नजरिया।

अपुनी तउ पहिरइ स्याम धोती अँगउछा,

मैं पानी भरन जाँऊं मोर चमकई चुनरिया'[11]

अवधी में कई जातीय गीत भी प्रचलित हैं। इनमें धोबिया, कहरवा, पुरबिया, भगत, पसिया, अहीर, गोंड, चमरवा गीत आदि मुख्य हैं जिनमें इन जातियों के अचार विचार, संस्कृति, चारित्रिक अभिलक्षण का परिचय मिलता हैं। अहीर जाति जो गीत गाती है उसे बिरहा कहा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि शायद ही कोई अहीर हो जिसे बिरहा गाना न आता हो। वहीं गोंड जाति का गीत है गोड़ऊ। कहार जाति के गीत कहरवा नाम से चलते हैं।

इन लोकगीतों में आज़ादी के गीत भी प्रस्तुत किये गए हैं। इनमें सन 1857 की क्रांति, स्वाधीनता आन्दोलन और गांधी के मन्त्रों की फूँक आदि सुनाई देती है। लोक कवियों की वाणी में तत्कालीन इतिहास का भी बेबाक चित्रण किया है –

सन सत्तावन भारत बिगड्यो गौरमिंट घबरानी

बिगड़ उठी झाँसी की सरनी लक्ष्मीबाई मरदानी

राना का सरजा, नरपत की हथनी मचलानी

अवध बीच जब आये फिरंगी घर घर मैदानी[12]

सामान्यतः लोक साहित्य में प्रचलित लोकगीत एवं रीति-रिवाजों को सामूहिक वर्ग की विरासत स्वीकार किया जाता है। लोक साहित्य मौखिक परंपरा के द्वारा स्वतंत्र एवं जीवित लोक भाषा में एक वंश से दूसरे वंश परंपरा तक का सफ़र तय करता है। सामान्यत: लोक साहित्य के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं होता हालाँकि वर्तमान समय में अपवाद स्वरूप हम कई लेखक या कवियों के नाम की छाप उनके साहित्य पर देख सकते हैं।

लोकगीतों के विषय में तो यहाँ तक प्रचलित है कि यह अपौरुषेय हैं। ऐसी धारणा के पीछे कारण संभवत लोक साहित्य का लिपिबद्ध न होना भी हो सकता है। लेकिन यदि गौर से देखा जाए तो लोक साहित्य एवं लोकगीतों के बनने बिगड़ने की पूरी प्रक्रिया का संबंध लिपिबद्धता के बरक्स समाज की बदलती परिस्थितियों में उसकी स्वीकार्यता एवं विस्तार की सतत प्रक्रिया में निहित है। यही कारण है कि लोक साहित्य की अटूट परंपरा लोक जीवन से जुड़े लोगों द्वारा निरंतर निबाह की गई है। जो निर्माण की प्रक्रिया से कम महत्वपूर्ण या कमतर नहीं है।

हालांकि लोक गीतों में क्षेत्रीय भाषाओं एवं जनपदीय बोलियाँ की प्रमुखता होती है लेकिन इनका प्रभाव वैश्विक एवं राष्ट्रीय स्तर पर होता है। आजीविका की तलाश एवं प्रवास के कारण अवध-प्रदेश व अवधी भाषी क्षेत्र से बड़ी संख्या में लोग परिवार सहित सुदूर क्षेत्रों में बस गए जहाँ वह बोलचाल में अवधी का ही प्रयोग करते थे। यही कारण है कि अवधी के लोकगीत न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी (फिजी, सूरीनाम, मॉरिशस आदि देशों) उपलब्ध है।

पूरे विवरण के निष्कर्ष स्वरुप अंत में यही कहा जा सकता है कि अवधी का स्वरूप व्यष्टि से परे समष्टि के भाव को जाहिर करता है। लोकोन्मुखता का भाव ही इसका मूल मन्त्र है।

सन्दर्भ ग्रथ-

स्रोत ग्रंथ-

1. पाठक आचार्य विश्वनाथ, सर्वमंगला, भवदीय (सं.) प्रकाशन, श्रृंगारहाट, अयोध्या, 1970
2. सक्सेना बाबूराम, अवधी का विकास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद: 1972, पृष्ठ-21।
3. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी भाग-2, पृष्ठ- 1-2
4. लोक साहित्य सिद्धांत और प्रयोग डॉ. श्रीराम शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, तृतीय संस्करण 1942, पृष्ठ- 46-47
5. अवधी सूर्य प्रसाद दीक्षित साहित्य अकादमी प्रथम संस्करण नई दिल्ली 2015 , पृष्ठ 99
6. भारतीय लोक साहित्य कोश मीमाँसा और संपादक, डॉ सुरेश गौतम, सह संपादक डॉ वीणा गौतम, संजय प्रकाशन दिल्ली भारत प्रथम संस्करण पृष्ठ ,2010, 527

7. वही पृष्ठ, 526
8. वही, 530
9. उपाध्याय डॉ कृष्ण, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1957, पृष्ठ-14
10. वही, पृष्ठ- 15
11. वही, पृष्ठ- 16
12. भारतीय लोक साहित्य कोश मीमाँसा और संपादक डॉ सुरेश गौतम सह संपादक डॉ वीणा गौतम संजय प्रकाशन दिल्ल, पृष्ठ 539

सहायक ग्रंथ

1. सक्सेना बाबूराम, अवधी का विकास, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, संकरण 1972
2. (सं.) त्रिपाठी रामनरेश, कविता कौमुदी भाग-2, हिंदी मंदिर प्रयाग, चौथा संस्करण 1996
3. उपाध्याय डॉ कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1957
4. शर्मा डॉ. श्रीराम, लोक साहित्य सिद्धांत और प्रयोग, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, तृतीय संस्करण 1942
5. (सं.) उपाध्याय कृष्णदेव, अवधी लोकगीत, भूमिका आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1978
6. (सं) गौतम डॉ सुरेश, (सह सं) गौतम डॉ वीणा, भारतीय लोक साहित्य कोश (खंड-2) संजय प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010

अचला वर्मा

शोधार्थी

पी.एच-डी. हिंदी साहित्य

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नईदिल्ली, पिन:- 110067

सहायक आचार्य- हिंदी विभाग

श्रीमती शारदा जौहरी नगर पालिका कन्या महाविद्यालय, कासगंज, उत्तर प्रदेश,

पिन:- 207123

मो. न.- 9910317945, ईमेल- achlarsverma@gmail.com

(शोध आलेख)

मनुष्यता की पक्षधरता के कवि कुमार अंबुज

गुरदीप

शोध सार

कुमार अम्बुज समकालीन हिंदी कविता के उन प्रमुख कवियों में से एक हैं, जिनकी रचनाएँ सामाजिक न्याय, मानवाधिकार और जनता की पक्षधरता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं। उनकी कविताएँ आम जन-जीवन की पीड़ा, संघर्ष और आकांक्षाओं को गहराई से उजागर करती हैं। यह शोध-पत्र कुमार अम्बुज की कविताओं में निहित जनता की पक्षधरता के तत्वों का विश्लेषण करता है और यह समझने का प्रयास करता है कि उनकी काव्य-चेतना किस प्रकार शोषित, वंचित और उत्पीड़ित वर्गों की आवाज़ बनती है। इनकी कविताओं में घटनाओं प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से मूर्त रूप देने का सार्थक प्रयास किया गया है।

इस अध्ययन में कवि की भाषा-शैली, प्रतीक-चिन्हों और विषय-वस्तु का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि कैसे उनकी कविताएँ सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर सवाल खड़े करती हैं। शोध में यह भी स्पष्ट किया गया है कि कुमार अम्बुज की कविताएँ केवल आलोचना तक सीमित नहीं रहतीं, बल्कि वे पाठकों को सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरित भी करती हैं।

बीज शब्द- कविता, सामाजिक समानता, समता, देश, सांप्रदायिकता, कविता, मनुष्यता।

आलेख

कुमार अम्बुज समकालीन समय में प्रमुख हिंदी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मैं जब भी इनकी कविताओं का अध्ययन करता, तो मुझे इनके कविताओं में एक भिन्न सी बेचैनी दिखाई पड़ती और बेशक कवि को उसका बेचैन होना ही उसे कवि बनाता है, उसी प्रकार कुमार अम्बुज की कविताओं में उनकी बेचैनी को सहज लक्ष्य किया जा सकता है। यह बेचैनी उनकी निजी नहीं है अपितु यह मनुष्यता का खत्म करने वाली शक्तियों के प्रतिरोध की बेचैनी है। कुमार अम्बुज को यह प्रवृत्ति किसी दैवीय शक्ति के कारण नहीं अपितु उनकी संवेदनशीलता के कारण उन्हें प्राप्त हुई है। इसका दूसरा कारण वे गुना में उनके जन्म को भी मानते हैं क्योंकि मध्यप्रदेश का गुना शायरों की नगरी मानी जाती है और वहां के परिवेश में वे पले-बढ़े और अपनी संवेदना का निर्माण किया। मानव जाति में समाप्त हो रही संवेदनाओं को इन्होंने अपने संवेदनात्मक लेखन का आधार बनाया है। जीवन की जटिलताओं को आधार बनाकर कुमार अम्बुज कविता के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, जिससे वे जटिलताएँ और घटनाएँ बार-बार हमें सचेत करती हैं। स्वयं की अभिव्यक्ति की खोजवश इसी उम्मीद में कि कहीं तो उस बेचैनी का

उत्तर मिले, इसके लिए कवि अपने समय के अनेकों किवाड़ खटखटाता है। जिस कवि में समाज में परिवर्तन की बेचैनी ना हो वह कवि होने के प्रतिमान पर खरा नहीं उतर सकता, क्योंकि वह कवि न होकर सिर्फ कलावादी होगा। कुमार अम्बुज मानते हैं कि एक सच्चा कवि वही है जो कलावादी नहीं है, क्योंकि कलावाद समाज निरपेक्ष हो जाती है। वे कहते हैं कि "मेरी नजर में कलावाद प्रत्यक्ष रूप से अमूर्तन में जाती है। वह अलौकिकता में जाती है। वह समाज निरपेक्ष हो जाती है। भाषा से कलावादी वह काम लेना चाहते हैं जो भाषा का काम ही नहीं है। भाषा का काम संप्रेषण है, संवाद है, अभिव्यक्ति है और कलावाद में यह सब चीजें बाधित हो जाती हैं।"[1]

कुमार अम्बुज मानव के कल्याण की भावना के रूप में ही भाषा को शस्त्र के रूप में देखते हैं और उसी को भाषा का मुख्य कार्य मानते हैं। मानव समाज की चिंता उन्हें देर रात तक जगा कर रखती है। उनकी इस बेचैनी को उनकी कविता 'रात तीन बजे' में देखा जा सकता है-

एक आवाज आती है

रात तीन बजे की नींद में

यह कुएँ में बाल्टी डूबने की आवाज है

या बिल्ली कूद गई है बगल की छत पर

कि एक औरत ने

अपना रोना तेजी से रोक लिया है।

या फिर किसी ने

डुबकी लगाई है तालाब में

यह गोली की आवाज है

या आदमी के धूल में गिर जाने की ?

यह कैसी आवाज है

जो आई है जब से

मेरी नींद की छाती पर बैठ गई है![2]

इस कविता में समाज में व्याप्त भयावह स्थिति को प्रदर्शित करने का प्रयास अम्बुज जी ने किया है। यह कविता मानवीय संवेदनाओं, अनिश्चितताओं और भय की गहराई को प्रकट करती है। कुछ अप्रत्याशित

घटनाओं की आशंका को अम्बुज बारीकी से चिन्हित करते हैं। समाज एवं परिवार के दबाव एवं मर्यादाओं से कुचली जा रही स्त्री के रोके हुए रोने को इन्होंने अपनी आवाज में तब्दील किया है। प्राचीन समय से ही स्त्रियों का शोषण होता रहा है। स्त्रियों की जितनी दुर्दशा भारत में हुई है वह भूलने लायक नहीं है। यह पुरुष के माथे पर कलंक की तरह है। मनुष्यता को कुचलने वाली इस मानसिकता को कुमार अपनी कविता के माध्यम से चुनौती देते हैं। चूंकि 'किवाड़' कुमार अम्बुज का प्रथम काव्य संग्रह है लेकिन प्रथम काव्य संग्रह में ही उनकी संवेदनात्मक दृष्टि को सहजता से लक्ष्य किया जा सकता है। कुमार वर्तमान में जीने में विश्वास करने के पक्षधर हैं। इनके अनुसार पुरानी सभ्यता की चिंता से ज्यादा जरूरी वर्तमान है और वर्तमान में भी मनुष्य। अम्बुज सभ्यता और धर्म की आड़ में छिपी उस सांप्रदायिक मानसिकता से बचने का भी आग्रह करते हैं। सभ्यता से मनुष्य नहीं अपितु मनुष्य ही सभ्यताओं का निर्माण करते आए हैं। 'मेरे पास' कविता में वे लिखते हैं-

मेरे पास थोड़े-से पत्थर थे

और कुछ सूखे बाँस

जिनके सहारे मुझे

तय करना था अपनी सभ्यता का रास्ता

पुरानी सभ्यताएँ टीलों की खुदाई चाहती थीं

और मुझे अपनी सभ्यता को

टीलों में तब्दील होने से बचाना था।[3]

पल-प्रतिपल हो रहे सामाजिक पतन से कुमार अम्बुज परिचित हैं। समाज, धर्म, संस्कृति, जाति आदि के प्रति उनके विचार स्पष्ट हैं। जाति, मनुष्यता विरोधी एक ऐसी मावन निर्मित व्यवस्था है जिसने भारत देश को दीमक की तरह खाया है। समाज में हो रहे जातिगत भेदभाव के विरोध में कुमार अम्बुज ने अपने नाम से अपनी जाति सूचक शब्द को ही हटा दिया। उनका मानना है कि कोई भी किसी भी मनुष्य को उसकी जाति से ही क्यों पहचाने या फिर जाति ही क्यों मनुष्य की पहचान बने। अम्बुज ऐसी मानसिकता प्रेरित लोगों का चित्रण बिना लाग-लपेट करते हैं। इनकी 'तुम्हारी जाति क्या है ?' कविता देखिए-

तुम्हारी जाति क्या है कुमार अम्बुज ?

तुम किस-किस के हाथ का खाना

खा सकते हो

और पी सकते हो किसके हाथ का पानी

चुनाव में देते हो किस समुदाय को वोट

ऑफ़िस में किस जाति से पुकारते हैं लोग तुम्हें

जन्मपत्री में लिखा है कौन-सा गोत्र

और कहाँ ब्याही जाती हैं

तुम्हारे घर की बहिन-बेटियाँ

बताओ अपने धर्म

और वंशावली के बारे में

किस मस्जिद किस मंदिर किस गुरुद्वारे में

किस चर्च में करते हो तुम प्रार्थनाएँ

तुम्हारी नहीं तो अपने पिता

अपने बच्चों की जाति बताओ

बताओ कुमार अम्बुज

इस बार दंगों में रहोगे किस तरफ़

और मारे जाओगे

किसके हाथों ? [4]

जाति भारत देश के मस्तक पर कलंक की तरह है। आज भी समाज में जाति देखकर लोगों का उत्पीड़न किया जाता है। दलित समाज वर्षो से इस भेदभाव को झेल रहा है। ऊँची जाति के लोग निम्न समझी जाने वाली जातियों का शोषण करते हैं। हमारी इन्हीं मूर्खताओं के कारण विदेशियों ने भारत पर वर्षों शासन किया। समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया अपने लेख 'जाति' में लिखते हैं कि "मैं समझता हूँ कि हिन्दुस्तान की दुर्गति का सबसे बड़ा कारण जातिप्रथा है। हिन्दुस्तान बार-बार विदेशियों के कब्जे में गया और हमले हम इतने झेल नहीं पाए, इसका भी सबब जातिप्रथा है, पर अकेला नहीं। मैं वह गलती करना नहीं चाहता जो दूसरे लोग कर चुके हैं कि यही सबब बताऊँ। कई सबब हैं, पर उनमें यह शायद सबसे बड़ा है।" [5]

जातिप्रथा के कारण हमारे समाज में कभी एकता स्थापित नहीं हो पाई और हम बार-बार गुलाम होते रहे। जातिगत भेदभाव को तूल देने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि जातिगत उत्पीड़न सहने वाले कमजोर लोगों की चीख साहित्य और समाज दोनों में हस्तक्षेप करती है। शब्द उसी तरह मनुष्यता के पक्षधर होते हैं जैसे जीवित सत्ता। एक कवि ही निर्जीव सत्ता और समाज दोनों को चुनौती देने का साहस कर सकता है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन ही कवि के कथ्य का आधार बनती हैं। यही सब विषय कवि के सौंदर्यशास्त्र का निर्माण करते हैं। परंतु कुमार अम्बुज अपने लेखन के प्रति स्पष्ट हैं। इनके यहाँ द्वंद्व की स्थिति नहीं है। वे कहते हैं "कभी-कभी मेरे मन में भी यह सवाल उठता है कि मैं कविता क्यों लिखता हूँ। इस सवाल का कोई चमकदार, अकाट्य और तार्किक उत्तर मेरे पास कभी नहीं होता, सिवा इसके कि संसार में यदि एक चींटी के होने का कोई अर्थ है, मधुमक्खी होने या एक कमज़ोर आदमी के बने रहने की कोई अर्थवत्ता, व्यर्थता और संघर्ष है तो वही अर्थ मेरे कवि होने का भी है। उसी के साथ मेरे लिखते जाने का मायना है।"[6]

कुमार अम्बुज मनुष्यता के विरुद्ध पनप रहे क्रूर रवैये के सख्त खिलाफ हैं। इसी क्रूरता के विरोध में उनका 'क्रूरता' काव्य संग्रह मनुष्यता के पक्ष में खड़ा होता है। ऐसे समय में जब विकल्प की सुविधा और असहमति की स्वीकार्यता निरंतर घट रही हो तो तब कुछ भी कहना नए जोखिम से कमतर नहीं है। आज के समय में खतरनाक लोगों को पहचानना बहुत कठिन हो गया है, लेकिन कुमार अम्बुज ऐसे खतरों से परिचित हैं। एक नागरिक होने के नाते आम आदमी की दृष्टि से वे नागरिक पराभव की तरफ ईशारा करते हैं और लिखते हैं-

बहुत पहले से प्रारंभ करूँ तो

उससे डरता हूँ जो अत्यंत विनम्र है

कोई भी घटना जिसे क्रोधित नहीं करती

बात-बात में ईश्वर को याद करता है जो

बहुत डरता हूँ अति धार्मिक आदमी से।[7]

इनकी कविताओं में नागरिक होने के संघर्ष, चिंता, व्यथा आदि को सहज चिन्हित किया जा सका है। 'क्रूरता' काव्य संग्रह आम नागिरक के पक्ष में होने का घोषणापत्र है। वे हर उस आदमी के समाज के लिए खतरा मानते हैं जो संवेदनशून्य हो गया है। जिसे अन्याय देखकर क्रोध नहीं आता है और घटनाओं को भी ईश्वर की मर्ज़ी करार दे देता है। मनुष्य इतना संवेदन शून्य हो गया है कि उसके हृदय में क्रूरता के अलावा कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। समाज की यही दशा कवि को बेचैन करती है। कवि-चिंतक नरेन्द्र जैन लिखते हैं कि "कुमार अम्बुज एक बेचैन कवि हैं, बेचैनी उसे पसंद नहीं, लेकिन

आसपास घटित होता सब कुछ उसे बेचैन किए रहता है। जो जहाँ है, जैसा है उससे साम्य बिठाने का स्वभाव उसका नहीं है।"[8] इस स्थिति से बचने के लिए अम्बुज हमें चेताते हैं। इसी संदर्भ में उमकी 'क्रूरता' शीर्षक कविता प्रासंगिक है-

धीरे-धीरे क्षमाभाव समाप्त हो जाएगा

प्रेम की आकांक्षा तो होगी मगर जरूरत न रह जाएगी

झर जाएगी पाने की बेचैनी और खो देने की पीड़ा

क्रोध अकेला न होकर वह संगठित हो जाएगा

एक अनंत प्रतियोगिता जिसमें लोग

पराजित न होने के लिए नहीं

अपनी श्रेष्ठता के लिए युद्धरत होंगे।[9]

यह क्रोध मनुष्यता के लिए घातक है। इसी क्रोध के विरोध में प्रेम को अपना हथियार बनाकर खड़े होने का आग्रह कवि हमसे करता है। मनुष्य के इस पतन के पीछे कई तरह के प्रेरक तत्व कार्य करते हैं, जैसे पूँजीवाद, बाज़ारवाद आदि जिसने मनुष्य के जीवन को इतना कठिन बना दिया है कि वह जरूरत की चीजों के लिए भी बाजार जाने से कतराता है क्योंकि बाजार ने आवश्यकताओं की चीजों को भी अपने सांचे में ढाल मनुष्य की पहुँच से बाहर कर दिया है। बाज़ार मनुष्य के मस्तिष्क को भ्रमित करने की क्षमता रखता है। बाजार की चकाचौंध ने मनुष्य को उपभोक्तावादी बना दिया है। बाज़ारवाद में छोटे दुकानदारों की जगह नहीं है वहाँ बस पूंजीपतियों का आधिपत्य है। बाज़ारवाद की इसी प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए कुमार अम्बुज लिखते हैं-

इस बीच जहाँ से भी मैं गुज़रा

चमकदार चीज़ों की कीमत पूछता हुआ

सिर हिलाता रहा रईस आदमी की नकल में

और इस वक्त था जूतों की दुकान के शो-केस के सामने

जहाँ लुभावने मॉडल्स के नीचे लिखी थी जोड़ी की कीमत

सुंदर सेंडिल देख कर याद आए मुझे पत्नी के खुरदरे पाँव

मगर तीन सौ चालीस की पर्ची देख कर

मैंने पास से गुज़रती औरत को ताकना शुरू कर दिया।[10]

जिस प्रकार कोई भी अवसरवादी लेखक विरोधियों के साथ समन्वय स्थापित करने में लगा रहता है वहीं कुमार अम्बुज जीवन और कविता के बीच एक तादात्म्य स्थापित करने की सार्थक कोशिश करते हैं। यह किसी भी सच्चे कवि के लिए चुनौती से कम नहीं होता क्योंकि इसके अपने खतरें होते हैं। अम्बुज के अनुसार "अक्सर समन्वयवाद या सर्वसमावेशी पैंतरा किसी न किसी अवसरवाद में जाकर स्खलित होता है. जो तथाकथित उदारवादी, व्यक्तिवादी, परिवारवादी, समन्वयवादी, कार्पोरेटी, न्यासवादी, एनजीओवादी साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं वे अपने अधिकांश में महज़ रोज़ी-रोटी चलाने, अनुदान और अन्य निधि व्यवस्था में एक लाभार्थी जैसे प्राची प्रभामंडल तले, 'निजी हैसियत' कमाने के प्रत्यक्ष-परोक्ष उद्देश्य से काम कर रही हैं।"[11]

अम्बुज इन खतरों को पहचानते हुए आगे बढ़ते हैं। उनका 'अतिक्रमण' काव्य संग्रह उनकी इसी प्रतिबद्धता का साक्षी है। वे हमारे समाज में व्याप्त आततायियों से परिचित हैं। हम ऐसे समाज में रह रहे हैं जहाँ मनुष्यता की आड़ में दिखावापरस्त लोगों का आधिपत्य है। ऐसे लोग जो चेहरे पर मुस्कान पर ह्रदय में घृणा लिये मानवता के साथ खिलवाड़ करते हैं। कवि निरंतर ऐसी प्रवृत्ति के लोगों की असली पहचान का पर्दाफाश करता है जो धर्मिक और भलाई कार्यों के पीछे मनुष्य का शोषण करते हैं। लेकिन आम लोग उनके इस स्वभाव से अपरिचित रह जाते हैं। समाज में बढ़ रहे आततायियों की संख्या से कवि चिंतित हैं, जिसका जिक्र वे अपने काव्य संग्रह 'अतिक्रमण' में करते हैं। वे लिखते हैं-

मैं जानता हूँ एक ऐसे आततायी को
जो ग़रीबों में कंबल बाँटता है
जिसकी कमीज़ पर फूल
और होंठों पर हँसी बनी रहती है.

धीरे-धीरे मैं
ऐसे कई आततायियों को जानता हूँ
बहुत मुश्किल है इस समाज में जिन्हें
अब आततायी कह पाना।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि के सामने सबसे बड़ा चिंता का विषय यह है कि समाज में ऐसे शोषणकारियों की स्वीकार्यता बढ़ गई है, जो कि मनुष्यता के पतन का प्रमाण है। इसलिए कवि निरंतर समाज में व्याप्त दोहरे चरित्र के लोगों के ढोंग को उजागर करते रहते हैं। दोहरे चरित्र के लोग जो आदर्श नागरिक, कला प्रेमी, राष्ट्रभक्त बनने का ढोंग रचते हैं, गहरे में वही लोग मनुष्यता के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। ऐसे शत्रुओं से सचेत रहने का आग्रह ही कवि कुमार अम्बुज के कवि कर्म का उद्देश्य है।

संदर्भ

1. हिंदवी मंच के 'संगत' कार्यक्रम में यूट्यूब पर दिये गए साक्षात्कार से।
   https://youtu.be/VhoPMHYFL9s?si=Tx3yh4x1-T3sgNIO
2. अम्बुज, कुमार ; किवाड़ ; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, संस्करण 2016, पृष्ठ संख्या 13-14
3. वही पृष्ठ संख्या 11
4. अम्बुज, कुमार ; कवि ने कहा ; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 29
5. लोहिया, राममनोहर ; हिन्दू बनाम हिन्दू ; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, संस्करण 2023, पृष्ठ संख्या 78-79
6. वही पृष्ठ संख्या 9
7. अम्बुज, कुमार ; क्रूरता ; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 11
8. जैन, नरेन्द्र ; वागर्थ ; वर्ष 2013, पृष्ठ संख्या 108
9. अम्बुज, कुमार ; क्रूरता ; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 22
10. वही पृष्ठ संख्या 28
11. अम्बुज, कुमार ; पक्षधरता का चुनाव और आचरण का संकट ; समालोचन (पत्रिका), 24 नवम्बर 2024
12. अम्बुज, कुमार ; अतिक्रमण ; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 63

गुरदीप, शोधार्थी, हिंदी विभाग

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

ई-मेल पता : gurdeepbhonsle@gmail.com

संपर्क- 860705261

(शोध आलेख)

रागात्मक संबंध और लीलाधर मंडलोई

विकाश कुमार यादव

माँ इस दुनियां में सबसे अनमोल उपहार है। आज जब चारों ओर इंसानियत और प्रेम को अपदस्थ कर हैवानियत और घृणा का बोलबाला है तो ऐसे में माएं ही हैं जो निःस्वार्थ और निःश्छल प्रेम की वर्षा करती हैं। इसलिए प्राचीन काल से ही माँ को सबसे उंचा स्थान दिया जाता रहा है। जैसे कि राम का स्वर्ण-नगरी लंका पर विजय पताका फहराने के बाद भी उनका मन वहाँ नहीं रमता है और वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहते हैं 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।'

माँ, जननी तो है ही और साथ ही वह अपना स्तन-पान कराकर हमें वर्धमान भी करती हैं और बच्चे को परिवेश तथा मानव समाज की विशेषताओं का ज्ञान सबसे पहले उसकी माँ से होता है, इसलिए बच्चे की पहली शिक्षक माता ही होती है। इसलिए उसका स्थान पिता और गुरु से भी ऊंचा है। माँ खुद अपने बच्चे को लिखती है अतः उस पर लिखना सूरज को दिया दिखाने जैसा है। ऐसे में लीलाधर मंडलोई का अपनी माँ रामबाई को याद करना और उन पर कविता लिखना दुनियां भर की माताओं के प्यार और संघर्ष का सम्मान है।

कवि लीलाधर ने माँ पर अनेक कविताएँ लिखी हैं, लेकिन लघु शोध प्रबंध की अपनी सीमाएँ होती हैं अतः सभी कविताओं पर विचार करना संभव नहीं है। अतैव एक-दो कविताओं की ही चर्चा यहां पर की जा रही है। मंडलोई जी के पहले काव्य संग्रह घर घर घूमा में एक कविता है माँ दिन भर हमारे इंतज़ार में रहती है, जिसमें एक माँ के संघर्ष और प्यार को देखा जा सकता है -

‘माँ छोड़कर घर

(रामभरोसे)

निकल पड़ती है

काम पर

हम उसके लौट आने का

इंतज़ार करते हैं

दिन भर

माँ दिन भर

हमारे इंतजार में रहती है।‘ [1]

इस कविता में बच्चे माँ के काम पर से लौट आने के इंतज़ार में हैं माँ से मिलने के लिए, तो दूसरी तरफ एक माँ का जीवन संघर्ष है और साथ ही अपने बच्चों से मिलने का वात्सल्यमय प्रेम की तड़प। इसी तड़प में जब "मिल का भोपू बजाता है पाँच" तो आतुर समुदाय (मज़दूर वर्ग) अपनी थकान मिटाने और असमय बारिश से बचने को परस्पर छोटे-मोटे विषयों पर बतियातें हैं लेकिन कवि की माँ बारिश से बेपरवाह होकर अपने बच्चों से मिलने के लिए घर की तरफ भागती है। इस क्रम में वात्ससल्य-मय घन के उमड़-उमड़ कर बरसने से उसका आँचल (दूध से) भीग जाता है -

इस पूरे परिदृश्य में

ठीक पाँच बजे से ही

चिन्तातुर - बेचैन

सिर्फ़ एक औरत भागती है

बारिश से बेपरवाह

औरत भागती है

घर की तरफ़

पहुँचते-पहुँचते घर

उसका आँचल

भीग-भीग उठता है कई बार।[2]

इन कविताओं का एक अर्थ माँ के संघर्ष और प्रेम से तो ही लेकिन साथ ही एक दूसरा गहरा अर्थ भी है। वह यह कि ‘दोपहर का भोजन’ की सिद्धेश्वरी की तरह एक माँ पेट काट कर अपने परिवार और बच्चों का पालन-पोषण तो करती है। लेकिन बदले में उसके इस संघर्ष, प्रेम और बलिदान का सिला ‘चीफ की दावत’ के मिस्टर शामनाथ की माँ जैसा मिलता है। जहां देश का कर्णधार कही जाने वाली मिस्टर शामनाथ जैसी हमारी युवा पीढ़ी शोहरत की बुलंदी को पाने के मद में माँ का अपमान कर रही है। जो यह भूल गयी है कि उसने यह जो खुशबू, रंग-ओ-आब पाया है और जिस पर वह इठला रहा है वह उसको अपने माँ-बाप के खून (संघर्ष, प्यार और जीवनभर की कमाई को) चूसने से मिला है।

लीलाधर मंडलोई को लीलाधर बनाने में उनकी पत्नी सरोज की भी महत्वपूर्ण भूमिका है इसलिए वे उनको बड़े प्रेम से याद करते हैं। वह अपनी पत्नी से यह नहीं कहते हैं कि 'मुझसे पहली-सी

मुहब्बत मेरे महबूब न माँग' और न ही यह कहते हैं कि 'इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया'। इसके बरक्स उनके महबूब का प्यार तो उन्हें इंसान बना रहा है, उन्हें त्रिलोचन की तरह 'जगत जीवन का प्रेमी बना रहा है' क्योंकि प्यार में सयानापन नहीं होता है- 'जहाँ नेकु सयानप बांक नहीं।' प्यार बांधने में नहीं मुक्त करने में है- *"तुम मुझसे प्रेम करो। जैसे मछलियाँ लहरो से करती हैं। जिनमें वह फँसने नहीं आती / जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं। जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पातीं।"*[3] इसलिए तो वे कहते हैं कि *"और तुम अनंत तक फैली मेरी धरती हो। जिसमें मेरी हर अच्छी-बुरी यात्रा का सुखद अंत निश्चित है।"*[4] प्रेम के संदर्भ में पाश ने ठीक ही कहा है कि *"प्यार करना और जीना उन्हें कभी नहीं आएगा / जिन्हें ज़िदगी ने बनिया बना दिया।"* [5]

मंडलोई खुशकिस्मत हैं क्योंकि उनके यहां फ़ैज़ की तरह काम इश्क़ के आड़े नहीं आता और न ही इश्क़ से काम उलझता है। तभी तो वे अपनी पत्नी के लिए हेमंत कुमार का 78 आर पी एम गीत गुनगुनाना चाहते हैं (जिसने उनके दाहिने हाथ को 15 जून 1982 को थामा था) और स्वीकार करते हैं कि 'मैं उसे बच्चों के सामने बांहों में भर लेना चाहता था।' इतना ही नहीं दिसंबर 1982 से जब पत्नी ने उनका हाथ थामा तब से अपने अनुभव को शेयर करते हुए कहते हैं कि *"हमनें अनुभव किए अपने भीतर / सातों समुद्र, सारे आकाश और समस्त पृथ्वियाँ। तब से शीत की ऋतु है बहती हमारे आर-पार और / 1982 का दिसंबर महीना इतना आमीन! कि हवा बह रही है खुनक भरी और धूप भी है रेशमी चमकदार।"*[6] यहां गौर करने कि एक बात है कि मंडलोई जी कहते हैं कि 15 जून 1982 को उनकी पत्नी ने उनका हाथ थाम लिया, जबकि हमारे समाज में प्रचलन है कि पति पत्नी का हाथ थामता है। इस बात को 'घर घर घूमा' में संकलित देखता हूँ मैं कविता में मातृत्व व्यापार से समझा जा सकता है -

इन दिनों माँ होने के

आह्लाद से गुज़रती

मोहल्ले की पालतू कुतिया को

वह अपने भीतर से

गुज़रती महसूस कर रही है

एकदम सचेत

उसकी ज़रूरतों के प्रति

बिना चूक

खिलाती है उसे

घी लगी रोटियाँ

और खट्टी मीठी चटनियाँ

जैसे खुद भागती थी वह

इच्छाओं के रंग-बिरंगे स्वादों में

डेढ़ बरस पहले

उसकी इस तब्दीली में

माँ है

माँ कहीं भी हो

सिर्फ माँ है

जैसे अब मेरी पत्नी[7]

अतः मंडलोई जी का यह कहना कि उनकी पत्नी ने उनका हाथ थाम लिया, यह उनकी दूरदर्शिता है क्योंकि अपने मातृत्व गुण के कारण एक स्त्री ही हाथ थाम सकती है जैसे कि इस कविता में इनकी पत्नी ने गर्भवती कुतिया का हाथ थामा। हाथ थामा यानी कि देखभाल की। इसलिए कवि कहता है कि "माँ होना / दुनिया को सबसे बड़ी भेंट है सृष्टि की।" इसी तरह लीलाधर जी अपने पिता लक्ष्मण मंडलोई,'देखता हूँ मैं।

अक्का माँ, दमडू कक्का, मुंशी काका, पुत्र सुचिंत और पुत्री इवा पर भैरवी उस्ताद बिस्मिल्लाह खां की नामक कविता लिखा है।

इसी तरह कवि लीलाधर मंडलोई ने आधी आबादी की समस्या को एक आवाज दी तथा साथ ही मंडलोई जी दलित और स्त्री विमर्श की दो खामियों को भी भरते हैं। एक तो दलित विमर्श में जो अपने घर की स्त्रियों को लेकर जो नकार का भाव था जिसके कारण दलित स्त्री विमर्श उभर कर आया। मंडलोई जी ने अपने घरों की स्त्रियों की सकारात्मक उपस्थिति दर्ज कर इस कमी को दूर किया।

यह जरूरी भी है क्योंकि "किसी भी उत्पीड़ित समुदाय की मुक्ति के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण सवाल है कि दूसरे उत्पीडित समाज की मुक्ति के बारे में वो क्या सोचता है? कोई भी उत्पीड़ित समाज अगर सिर्फ अपनी मुक्ति के बारे में सोचता है, वो कभी मुक्त नहीं हो सकता, जब तक कि वो दूसरे उत्पीड़ित समाजों की मुक्ति के बारे में भी न सोचे, उनके प्रति एक सही रवैया न रखे, उनके साथ मिलकर चलने को तैयार न हो"[8] यानी "सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से (दूसरे) उत्पीड़ित समाजों समुदायों की

मुक्ति नहीं हो सकती ।"[9] दूसरे अपने काव्य में मातृत्व का स्थान प्रदान कर स्त्री विमर्श के उस विकृति को दूर किया जो मातृत्व जैसी महान भेंट को नकारती है। इसके साथ ही साथ आज के समय में आदमी आदमी के बीच मानवीय संबंध के स्थान पर व्यावसायिक संबंध स्थापित हो गये हैं, जिससे रिश्तों का पानी शुष्क हो गया है, जिससे स्वार्थ के संघर्ष में गुणात्मक वृद्धि हो रही है जिसके परिणामस्वरूप रिश्तों की नमी साहित्य और समाज में लंबे अरसे से हासिए पर जाकर शुष्क हो गयी, जिसे मंडलोई जी ने पुनर्जीवित किया। वह दिल्ली में रहते हुए जहां व्यक्तिगत स्वार्थ और अवसरवाद सिर पर सवार हैं। यहां की गतिविधि को समझने के लिए 'फ्रॉड' (छल) एक उपयुक्त 'की-वर्ड है' ।

अतः कवि लीलाधर का रिश्ते के बीच की इस शुष्कता को मिटाने की यह पहल हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका अमूल्य और सराहनीय योगदान है। ऐसा करके वह रिश्तों पर कोई अहसान नहीं कर रहें हैं बल्कि वे तो उन रिश्तों के अहसानमंद हैं, क्योंकि आज वे जो कुछ भी हैं इन रिश्तों की बदौलत ही हैं, माता-पिता के प्यार, संघर्ष और अथक परिश्रम ने इस हीरे को तरासा । तो इसीलिए उनकी कविताओं में माँ कड़ी धूप में एक छायादार दरख्त है तो अन्य सारे रिश्ते, सतपुड़ा के पहाड़ों समेत जीने का सहारा हैं। और साथ ही ये रिश्ते की नमी और सतपुड़ा के पहाड़ उनके काव्य के उपजीव्य हैं जहां से उनकी काव्यदृष्टि और कविता को खाद-पानी मिलता है।

अतः इनकी अभिव्यक्ति न करके वे अपने और अपने अंदर के कवि के साथ न्याय नहीं कर पाते। इसके साथ ही ये कविताएं आज की उस कर्तव्यच्युत और भटकी हुई युवा पीढ़ी के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण हैं, जो सिर्फ अधिकारों की माँग करती है। इन कविताओं से उसे अपने कर्तव्यों के पालन की ओर राह मिलेगी ।

संदर्भ ग्रन्थ

1-मंडलोई लीलाधर, घर घर घूमा, हापड़ संभावना प्रकाशन, 1991, पृ. 26

2- वही, भीग-भीग उठता है कई बार, पृ. 23

3- http://kavitakosh.org/kk /टूट्टी हुई, बिखरी हुई / शमशेर बहादुर सिंह, 05 मई 2017

4- "वहीं, मैं आ रहा हूँ (रात बिरातसे) / लीलाधर मंडलोई, 05 मई, 2017

5- http://kavitakosh.org/kk/ अब बिदा लेता हूँ / पाश, 05 मई, 2017

6- वही, आमीन (मगर एक आवाज़ से)। मंडलोई लीलाधर, 8 मई, 2017

7-घर घर घूमा से, मंडलोई लीलाधर, घर घर घूमा, हापुड़ संभावना प्रकाशन, 1991, पृ. 18 से 19

8-दलित विमर्शः सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित समाजों समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकतीः वीर भारत तलवार https://tirchhispelling.wordpress.com /2013/04/25/दलित-विमर्श-सिर्फ अपनी-मु-2/, 24 मई, 2017

9-वही

विकाश कुमार यादव,

शोध छात्र, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 110067.

Email ID-vikash1992jnu@gmail.com

(शोध आलेख)

नासिरा शर्मा की स्त्री दृष्टि

(विशेष संदर्भ : 'औरत के लिए औरत')

यशवंत

नासिरा शर्मा का साहित्य नारी मन के अनेक पहलुओं को उजागर करता है। उन्होंने जन-जीवन की त्रासदी को अलग दृष्टि से देखा, परखा और अपने संवेदनशील मन से सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। समाज में प्रचलित विकृति एवं उनसे मुक्ति को उन्होंने अपने साहित्य लेखन का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। 'औरत के लिए औरत' विभिन्न विषयों पर नासिरा शर्मा द्वारा लिखे गए लेखों का संग्रह है, जिसमें केंद्रीय रूप से उन्होंने विभिन्न वर्ग, जाति, समुदाय, वर्ण की स्त्रियों के संघर्षपूर्ण जीवन का, उसके कारणों एवं इनके समाधान सुझाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उनकी स्त्री विषयक दृष्टि को समझा जा सकता है। वे 'स्त्री' को एक पूर्ण मनुष्य के रूप में जीते हुए देखना चाहती हैं, जिसे उनके इस कथन से समझा जा सकता है जो उन्होंने पुस्तक की भूमिका में लिखा है "ये सारे लेख केवल लिखने के लिए नहीं हैं, बल्कि यह सब मेरे सरोकार हैं, जो औरत के द्वारा आबाद दुनिया में उसको बेहतर जिंदगी जीते देखने की कामना रखते हैं।"[1]

नासिरा शर्मा की जो संवेदनशीलता स्त्री के प्रति विकसित हुई है उसमें उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि एक महत्त्वपूर्ण कारण रही है। वे बचपन से ही अपनी माँ के संरक्षण में पली-बढ़ीं और उन्होंने अपनी माँ के जरिए ही स्त्री को पहले-पहल पहचाना। इस संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं कि "किसी भी लेखिका का रचना-संसार हवा में सृजित नहीं होता। अपने समाज और परिवार की वास्तविकताओं को अनदेखा करके कोई भी सार्थक रचना-कर्म नहीं किया जा सकता।"[2] औरत से उनकी पहली और गहरी पहचान अपनी माँ के जरिए हुई। यह पहचान ममता के दायरे से अलग उस परिवेश की थी जिसमें औरत एक इनसान की तरह साँस लेती थी। उन्होंने अपनी माँ में जो औरत देखी वह औरत होने से पहले एक इंसान थीं, जो किसी पर निर्भर न होकर स्वावलंबी थीं और अपने जीवन के साथ-साथ अपनी संतान को भी एक बेहतर जीवन देने की क्षमता रखती थीं। औरत की यही छवि नासिरा शर्मा के मन में गढ़ गई थी "मेरे अंदर औरत की एक ठोस प्रतिमा आकार ले चुकी थी, जिसको माँ ने गढ़ा था। स्वाभिमानी और स्वावलंबी उसी माँ ने जिसने दुनिया के सारे विरोध, विद्रोह, दमन, शत्रुता, अफवाह को सहने के बावजूद हमको एक बेहतर सुशिक्षित जीवन दिया। जिससे मैं आज बिना झिझक के कह सकती हूँ कि आज मैं जो भी हूँ वह माँ की देन है।"[3]

नासिरा शर्मा ने स्त्री को मानसिक रूप से पंगु बना देने की साजिश की पहचान विभिन्न स्तरों पर की है। इसका एक स्तर है उसे अपनी सहज भाषा में अभिव्यक्ति का अवसर न देकर बने-बनाए साँचों में ढालने की हर संभव कोशिश करना। एक स्त्री को अपने अनुसार साँचे में ढालने की यह प्रक्रिया तब से शुरू हो जाती है जब वह अपनी शैशवावस्था में होती है, ताकि वह बँधे बँधाए ढाँचे से बाहर हाथ-पैर न निकाल सके और इस बँधी-बंधाई छवि से अलग न दिखने लगे। बचपन से उसे निरंतर सुनने को मिलता है कि 'जबान बहुत चलने लगी है।' अपने मायके से लेकर ससुराल तक उसे नित्य यह उपदेश सुनाया जाता है कि 'कम बोलो', जो कि उसे कहीं भी और कभी भी उसकी सहज अभिव्यक्ति का अवसर नहीं पाने देता है। समाज द्वारा स्त्री के मन पर अपना कब्जा जमाकर उसे अपने अनुसार बुलवाने के लिए प्रवृत्त करने का पितृसत्ता का यह प्रयास स्त्री की मानसिकता पर कैसे परिणाम डालता है, उसको नासिरा शर्मा इस प्रकार स्पष्ट करती हैं "बचपन से इस दबाव के चलते अधिकतर लड़कियाँ अपने ऊपर विश्वास खो बैठती हैं और ध्यान से दूसरों को सुनकर अंदाजा लगाने लगती हैं कि बोलने वाला क्या सुनना चाहता है, वही जवाब वह दे बैठती हैं, ताकि उन पर कहने वालों का एतबार बना रह सके; मगर इस भय से वह अपनी चेतना, समझ और संवेदना के प्रति कितनी ईमानदार रह पाती हैं? औरत अपनी जबान का इस्तेमाल अपने जज्बात को बयान करने में यदि नहीं कर पाती है तो इससे बड़ा अन्याय उसके साथ क्या हो सकता है कि वह पूरी ईमानदारी से अपने सच के साथ जी भी नहीं पा रही है।"[4]

स्त्री को अपने अनुसार ढालने की इस साजिश के लगातार शैशवावस्था से चले आने के कारण स्त्री स्वयं पहचान ही नहीं पाती है कि वह जिसे अपनी सहज अभिव्यक्ति मान रही है असल में वह उसकी अपनी सहज अभिव्यक्ति है ही नहीं। उससे जो कुछ भी कहा जाता है, जैसी भी शाब्दिक हिंसा की जाती है, वह उसका उत्तर नहीं दे पाती है, क्योंकि उसकी मानसिकता को एक साँचे में ढाला जा चुका होता है कि स्त्रियों को 'कम बोलना' होता है, 'जबान नहीं चलानी' होती है। इसका परिणाम यह होता है कि जब अधेड़ होकर वही स्त्री अपने घर की स्वामिनी बनती है, तब वह स्त्री पूरी तरह से पुरुष मानसिकता का प्रतिरूप बन चुकी होती है और स्वयं भी मर्दों की तरह स्त्री के शोषण में प्रवृत्त होती है और वह "रिश्तों के नाम पर मर्दों की भाषा बोलने लगती है, क्योंकि सत्ताधारी वर्ग के भी अपने कायदे-कानून और दबाव होते हैं। एक सत्ताधारी दूसरे सत्ताधारी की तानाशाही का सम्मान नहीं करेगा तो अपना दबदबा कैसे बनाएगा?"[5]

पिछले कुछ दशकों में स्त्री की स्थिति में परिवर्तन दिखाई दिया है। स्त्री ने विभिन्न आयामों में स्वयं को पहचान दिलाई है, लेकिन नित-नए विकास के आयामों को हासिल करने के बाद भी स्त्रियों की स्थिति अधिकांश रूप से आज भी दोयम दर्जे की बनी हुई दिखाई देती है। पिछले दशकों में आए परिवर्तनों से स्त्री काफी हद तक जागरूक हुई है, उनकी शिक्षा का प्रतिशत भी पहले की तुलना में काफी बढ़ा है, बहुत अच्छे-अच्छे पदों पर उन्होंने नियुक्ति भी हासिल की है, लेकिन इतना सब होने के बाद

भी स्त्री के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया जाता है। उसे खुद से कमतर माना जाता है। इस सोच में कमी न आने के कारण भारत ही नहीं, बल्कि विश्वभर की महिलाएँ 'स्त्री' होने के दर्द को समान रूप से झेल रही हैं। स्त्री की स्थिति में कोइ भी बड़ा परिवर्तन लाने के लिए सर्वप्रथम उसे शरीर से परे देखना आवश्यक है। पुरुष प्रधान संस्कृति में स्त्री को 'भोग्या' के रूप में देखा जाता है। जिस दिन स्त्री के गुणों को स्वीकृत किया जाएगा, उसी दिन उसे एक 'मनुष्य' का स्थान प्राप्त होगा। तस्लीमा नसरीन कहती भी हैं "जिस दिन यह समाज स्त्री शरीर का नहीं- शरीर के अंग-प्रत्यंग का नहीं, स्त्री की मेधा और श्रम का मूल्य सीख जाएगा, सिर्फ उसी दिन स्त्री मनुष्य के रूप में स्वीकृत होगी।"[6]

नासिरा शर्मा चाहती हैं कि स्त्री अपने जीवन के सभी स्थलों पर और सभी संबंधों में गरिमापूर्ण तरीके से जीवन जिये और जहाँ कहीं भी उसकी मानसिकता, जो कि पितृसत्ता ने एक साँचे में ढाल दी हैं, में परिवर्तन की आवश्यकता हो उसमें परिवर्तन कर विकसित करने का प्रयास करे। वे विश्व स्तर पर चलाए जा रहे स्त्रियों के अधिकार की रक्षा करने वाले कार्यक्रमों, आंदोलनों, संविधान व सरकार द्वारा स्त्रियों के उत्थान के लिए किए जा रहे प्रयासों के बावजूद भी महिलाओं की स्थिति में एक ठोस सुधार लाने हेतु स्त्रियों की स्वयं के प्रति और दूसरी स्त्री के प्रति जागरूक होने पर बल देती हुई कहती हैं - "स्वयं स्त्री को अपने प्रति जागरूकता लानी पड़ेगी और जब वह अपने प्रति जवाबदेह होगी तब वह दूसरी स्त्री के प्रति भी संवेदनशील होगी। उसके दुःख-सुख को पुरुष आँखों से नहीं बल्कि इनसानी आँखों से देखेगी। उस समय महिला स्थिति में जो बदलाव आएगा वह ठोस और प्रामाणिक होगा।"[7] नासिरा शर्मा इस बात पर अधिक ध्यान दिलाना चाहती हैं कि स्त्री केवल स्वयं की पहचान या अधिकार तक ही सीमित न रहे, बल्कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति भी संवेदनशील रहे और अपने दायित्वों का निर्वहन करे, क्योंकि जिस स्वतंत्रता, समानता, खुलेपन की आवश्यकता उसे स्वयं है, उतनी ही अन्य स्त्रियों को भी। इसलिए वह मानव अधिकार के व्यापक अर्थ – 'जियो और जीने' दो को स्मरण रखते हुए परिवार की स्त्रियों- सास, ननद आदि के प्रति अपने दायित्वों को स्वतंत्र व्यक्तित्व के नाम पर अनदेखा न करे। यदि मानव अधिकार की चेतना अपने प्रति जागी है, तो उसमें दूसरी स्त्रियों को भी शामिल करना जरूरी है, नहीं तो मानव-चेतना का उदय होना ही बेकार साबित होगा। नासिरा शर्मा इस संबंध में लिखती हैं कि –" मानव अधिकार की यह बढ़ती चेतना संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखती है, फिर यह कैसे संभव है कि उस विचारधारा पर विश्वास रखने वाली महिला अपने परिवार के सभी सदस्यों का ध्यान उसी तरह न रखे, जैसा कि वह दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करती है। याद रहे प्रेम, सम्मान और सुख पहले दिया जाता है, फिर लिया जाता है।"[8] नासिरा शर्मा स्त्री के उस हर संघर्ष को उचित मानती हैं जहाँ वह अपनी स्वतंत्रता, अपने जीवन की बुनियादी जरूरतों के लिए आवाज़ उठाती है, लेकिन जब वह अन्य महिलाओं के अधिकार को नजरअंदाज करके स्वार्थी नज़रिया

अपनाकर केवल अपना जीवन सुखमय देखना चाहती है, उस समय वह इस संघर्ष को उचित नहीं मानती हैं। वह ऐसे संघर्ष को 'एकाकी' संघर्ष मानती हैं।

नासिरा शर्मा पुरुष को स्त्री मुक्ति में बाधा के रूप में नहीं देखती हैं, बल्कि उनका मानना है कि स्त्री- पुरुष दोनों को मिलकर इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। उनका मानना है कि तेज़ी से बदलती हुई स्त्री को समझने और उससे तालमेल बैठाने में पुरूष को जो भी समस्याएँ आती हैं, उस पर भी विचार करना चाहिए। वे इस विषय में कहती हैं कि "हम पुरुषों पर काम करना कब आरंभ करेंगे? उनकी कुंठाओं की गिरह, कमजोरियों और परेशानियों से भरी उलझनों को कब सुनेंगे और समझेंगे? पढ़ी-लिखी या समझदार औरत के साथ एक मर्द को कैसे पेश आना चाहिए क्या इस पर हमने लेख लिखे और सेमिनार किए हैं? समय आ गया है जब प्रबुद्ध महिलाएँ इसकी पहल करें और मर्द के साथ समाज की मानसिकता बदलें।"[9] नासिरा शर्मा का मानना है कि स्त्री को पुरुष की वर्चस्ववादी सोच का विरोध करना चाहिए, न कि पूरे पुरूष समाज का ही। पुरुष तथा स्त्री दोनों को आपस में तालमेल बना कर संतुलित रूप से कोमलता बचा कर रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए न कि स्त्री को पुरुष के खिलाफ जाकर अपनी मुक्ति देखनी चाहिए, क्योंकि आज पढ़े-लिखे, प्रगतिशील सोच के पुरुष स्वयं को महिलाओं की समस्याओं से काटकर नहीं देख पा रहे हैं, बल्कि वे ऐसी परंपराओं, घटनाओं, कुंठित मानसिकता के पुरुषों और दकियानूसी विचारों का खुलकर विरोध करते हैं जो स्त्री को इनसान न मानकर कमजोर, हेय, स्वयं से कमतर मानते हैं और उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं करते जैसा कि एक मनुष्य के साथ किया जाना चाहिए। ऐसे में नासिरा शर्मा का मानना है कि स्त्री को ऐसे पढ़े-लिखे, प्रगतिशील पुरुषों के साथ मिलकर दोगुनी शक्ति से अपनी आवाज़ बुलंद करनी चाहिए, ताकि पूरे समाज को यह पता चल सके कि यह दकियानूसी विचार अब और नहीं चल सकता कि स्त्री किसी से कमतर है। इस पुरुष वर्ग के समर्थन से महिलाओं पर लगने वाला वह आरोप भी स्वयं समाप्त हो जाएगा कि स्त्री सदैव पुरुषों को दोष देती रहती हैं - "महिलाओं को ऐसे विचारवाले पुरुषों का स्वागत करना चाहिए ताकि उनके विरोध में अधिक शक्ति आए और पूरा आंदोलन एकतरफा आरोप न झेल पाए कि औरतें पता नहीं क्यों मर्दों को सदा दोष देती रहती हैं। "[11]

पिछले कुछ समय से इस ओर ध्यान दिया जा रहा है कि औरतों की बदहाली में परिवर्तन लाया जा सकता है अगर वे आर्थिक रूप से स्वावलंबी हो जाएँ, लेकिन यह अर्धसत्य है। आज स्त्रियों को परिवार की ओर से कमाने की आज़ादी अवश्य मिली हुई है, किंतु अधिकांश स्त्रियों की कमाई पर उनका स्वयं का अधिकार नहीं है। उनका परिवार उस कमाई को अपने अनुसार प्रयोग में लाता है। ऐसी अर्धस्वावलंबी स्वतंत्रता को जब कभी देखा जाता है तो महसूस होता है कि इसका मूल कारण स्त्री का कानून के क्षेत्र में ज्ञान की अधूरी जानकारी होना है, जिसके कारण वह न अपनी इच्छाओं को पूरा कर पाती है और न ही अपना स्वयं का जीवन भरपूर तरीके से अपने अनुसार जी पाती है। इस संदर्भ में आशा

रानी व्होरा का यह कथन समीचीन ही है कि "संविधान ने स्त्रियों को चाहे कितने ही अधिकार दिए हों वे इनका पूरा उपयोग नहीं कर पाती। उनके वैधानिक अधिकारों और रूढ़िगत अधिकारों में जमीन-आसमान का अंतर है। घर-परिवार, रिश्तेदारी, धर्म, परंपरा के नाम पर स्त्रियों का दायरा सीमित किया जाता है, जिससे न तो वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर पाती हैं और न ही समाज में अपना पूर्ण योगदान कर पाती हैं।" कानून पुरुष और स्त्री को एक समान दृष्टि से देखता है। दोनों को ही कानून की आवश्यकता भी पड़ती है, मगर अधिकतर देखा गया है कि औरतें तर्क के स्थान पर भावुकता को स्थान देती हैं और अकसर हार का सामना उन्हें करना पड़ता है। पुरुषों का जो दोयम दर्जे का व्यवहार उन्हें झेलना पड़ता है उसे वे बुरा तो मानती हैं, किंतु उसके खिलाफ कोई प्रतिक्रिया नहीं करती हैं "विद्रोह करना, अपनी बात ऊपर रखना, सच पर डटे रहना, दमन के खिलाफ खड़े होना यह सारी बातें उन्हें अर्थहीन लगती हैं, जबकि वह सारी बुरी लगने वाली बातों की चर्चा माँ-बहन या सखी से कर दिल हलका कर लेती हैं।”[12] स्त्री को ऐसे व्यवहार के समक्ष प्रतिरोध करने या कानूनी प्रतिक्रिया करने की आवश्यकता है जो उसके अधिकारों का शोषण करे, क्योंकि जब स्त्री अपने अधिकारों को नहीं पहचानती है या उनका कानून के सहारे से उपयोग नहीं करती है, तो मर्द का मनोबल बढ़ता जाता है और वह स्त्री को निरंतर दबाते जाता है। नासिरा शर्मा इस विषय में लिखती हैं कि "यदि आप अपने अधिकार एक नागरिक के रूप में पहचानने लगेंगी, तो फिर लोगों का आपके प्रति व्यवहार बदलने लगेगा और वह आपका शोषण करने से पहले दस बार सोचेगा। "[13]

समाज में किसी भी नए बदलाव को लाना आसान नहीं होता है। ऐसी स्थिति में समाज के लोगों को आपसी सहयोग की आवश्यकता होती है। जहाँ कहीं भी सहयोग और संवाद की स्थिति होती है, वहाँ समस्याएँ सुलझती हैं। इस संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं कि "यदि स्त्री और पुरुष एक- दूसरे को बराबर का साथी समझें, थोड़ा विनय और औदार्य रखें और यदि वे अहंमन्यताजन्य हार- जीत की प्रवृत्ति का उन्मूलन कर सकें, तो परपीड़न या आत्मपीड़न की प्रवृत्तियों से छुटकारा पा सकते हैं।" [14] नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने में उनका साथ देने वाले अनेक पुरुष हैं, जो स्त्री के प्रति होने वाले अमानवीय व्यवहार के विरोध में अपने ही वर्ग के विरुद्ध खड़े होते हैं। अब यह समय है कि स्त्री ऐसे पुरूष वर्ग को साथ लेकर अपने उत्थान की दिशा में बढ़े और इसके लिए स्वयं कानून बनाने और उनके प्रयोग पर भी बल दे, क्योंकि स्त्रियों के अधिकारों से संबंधित कानून न केवल स्त्री को बल्कि पूरे समाज को लाभ पहुँचाते हैं "स्त्रियों के लिए बनाए गए कानून का लाभ केवल स्त्रीवर्ग नहीं उठाता, बल्कि उससे पुरुष भी लाभान्वित होते हैं। विशेषकर वे पुरूष जो पिता, भाई, बेटे और पति हैं। जब उनके समीप के रिश्ते किसी रूप से संकट में पड़ते हैं, तो यही कानून उनकी माँ, बहन, पत्नी, बेटी को मुक्ति का संदेश देते हैं।" [15] स्त्री की स्थिति में ठोस उन्नति के लिए नासिरा शर्मा का मानना है कि हम आने वाली पीढ़ी के रूप में अपनी संतान को जागरूक बनाए तथा उसमें वह चेतना भरे जो जड़ता, रूढ़िवादिता को तर्क पूर्वक रद्द करने

का हौसला रखे और नए विकसित प्रश्नों को सामने रख जीवन का उत्तर उनसे माँगकर अपने जीवन को गतिमान एवं सुखी बनाए। इस नई पीढ़ी के चेतना सम्पन्न होने पर वर्षों से चली आ रही शोषण की परंपरा टूटेगी और एक स्वस्थ समाज का निर्माण होगा, जहाँ पर 'स्त्री' या 'पुरुष' होने से पहले वे 'मनुष्य' होंगे और एक समान रूप से अपने व्यक्तिव का विकास कर समाज के विकास में अपना योगदान देंगे।

नासिरा शर्मा ने 'औरत के लिए औरत' में स्त्री की मुक्ति में आने वाली समस्याओं को सामने लाने का भरसक प्रयास किया है और दिखाया है कि किस प्रकार पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को उसी साँचे में ढालने की हर संभव कोशिश आज भी करता है, जो कि वर्षों से स्त्री को उसके अधिकारों से दूर रखने के लिए बनाए गए थे। वे स्त्री को ऐसे साँचे में ढालने का पुरजोर प्रयास करता है, जिसमें स्त्री को स्वतंत्र रूप से विचार करने, बोलने, अपने निर्णय स्वयं लेने का आत्मविश्वास ही नहीं आ पाता। यह प्रयास इतनी छोटी उम्र से शुरू हो जाता है कि बड़े होने पर वह इस सबको सामान्य तक मानने लग जाती है और स्वयं अन्य स्त्रियों का शोषण उसी पितृसत्तात्मक साँचे में ढालकर करना शुरू कर देती है, जिसकी शिकार वह स्वयं है। इस स्थिति में बदलाव लाने हेतु नासिरा शर्मा का मानना है कि स्त्री को स्वयं के प्रति और अन्य स्त्रियों के अधिकारों के प्रति जागरूक होने की तथा दायित्वशील होने की आवश्यकता है। इसके द्वारा वह अपने प्रति जवाबदेह भी होगी और अन्य स्त्रियों के प्रति संवेदनशील भी। साथ ही नासिरा शर्मा ने इस ओर भी इशारा किया है कि वर्तमान समय में पितृसत्तात्मक समाज से पुरुषों का एक ऐसा वर्ग बाहर निकलकर आया है, जो स्त्री को स्त्री होने से पहले मनुष्य मानता है और स्त्री-पुरूष दोनों को एकसमान नज़रिए से देखने का पक्षधर है। वह ऐसे सभी विचारों का विरोध करता है, जिनमें स्त्री को पुरूष के समक्ष कमतर माना जाता हो। नासिरा शर्मा जोर देकर यह कहती हैं कि ऐसे प्रगतिशील विचार के पुरुषों का स्वागत स्त्रियों को करना चाहिए और मिलकर स्त्रियों के समान अधिकार की आवाज़ को बुलंद करना चाहिए। साथ ही वे यह भी कहती हैं कि एक ठोस परिवर्तन लाने के लिए हमें आने वाली पीढ़ी के रूप में अपनी संतानों में वह चेतना भरनी चाहिए, जो कि जड़ता और रूढ़िवादिता को तर्क पूर्वक रद्द करने में सहायक हो और समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की भावना से समाज को देखने में सहायक हो। इसी से स्त्री- मुक्ति के साथ-साथ स्वस्थ समाज की संभावना संभव है।

संदर्भ सूची :-

1. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 6

2. हिंदी उपन्यास : सार्थकता की पहचान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-163

3. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 6

5. वही, पृष्ठ - 39

5. वही, पृष्ठ-42

6. औरत के हक में, तस्लीमा नसरीन, अनु. मुनमुन सरकार, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-166

7. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 9

8. वही, पृष्ठ - 31

9. वही, पृष्ठ - 128

10. वही, पृष्ठ - 158

11. भारतीय नारी - दशा और दिशा, आशा रानी व्होरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ - 126

12. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 80

13. वही, पृष्ठ - 86

14. स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बोउवर, अनु. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, पृष्ठ - 361

15. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, सामयिक प्रकाशन, पृष्ठ – 88

यशवंत, शोधार्थी,

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

(शोध आलेख)

समकालीन हिंदी नाटकों में स्त्री मुक्ति और सामाजिक लोकतंत्र

दिव्यप्रकाश

भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता 15 अगस्त सन् 1947 को प्राप्त हो गई थी और 26 जनवरी 1950 से संविधान लागू होने के साथ ही हमने एक सुव्यवस्थित लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। इस व्यवस्था के भीतर समाज के सभी वर्गों को समान अधिकार प्राप्त हुए और राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना संभव हो सकी। लेकिन व्यावहारिक स्तर पर हमारे भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के वर्ग भेद आज भी मौजूद है। यह भेद विभिन्न आधारों पर अवस्थित है जैसे धर्म, जाति, वर्ण (नस्ल), लिंग, भाषा, धन (पूँजी) आदि। इसके अतिरिक्त किसी भी तरह का भेदभाव जब तक समाज में व्याप्त रहेगा हम सामाजिक लोकतंत्र को प्राप्त नहीं कर पाएंगे।

सामाजिक लोकतंत्र एक सामाजिक अवधारणा है, जिसका गहरा सम्बन्ध जन-समाज के लोकतंत्र और सामाजिक अधिकार से है। यह विचारधारा मानती है कि समाज में किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, रंग (वर्ण), लिंग, भाषा, धन आदि के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर मिलने चाहिए। सामाजिक लोकतंत्र के मुख्य रूप से चार मूल तत्व हैं, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और न्याय। सामाजिक लोकतंत्र इन्हीं से मिलकर बनता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी ये शब्द शामिल है। समानता और स्वतंत्रता के अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त प्रत्येक नागरिक के मौलिक अधिकारों में भी सम्मिलित है।

समानता के अधिकार का उल्लेख जहाँ अनुच्छेद 14 से लेकर 18 तक में है, तो वहीं स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लेख अनुच्छेद 19 से लेकर 22 तक में है। **स्वतंत्रता** के अंतर्गत अपने ढंग से जीने, रहने, व्यवसाय करने, संपत्ति संचय करने, शिक्षा ग्रहण करने, तथा इच्छानुसार किसी भी सीमा क्षेत्र में आने-जाने, बसने और इच्छानुसार धर्म उपासना पद्धति अपनाने आदि की स्वतंत्रता शामिल होती है। **समानता** से तात्पर्य सभी के लिए समान अवसरों की उपलब्धता से हैं। कानून या शासन सभी लोगों के साथ एक समान व्यवहार करेगा तब हम कहेंगे कि समानता है। इसी तरह से समाज जब सभी लोगों के साथ समान व्यवहार करेगा तब हम कहेंगे कि सामाजिक रूप से भी समानता है। वर्तमान भारत में कानून या शासन के समक्ष तो सभी समान है लेकिन व्यवहार में समाज कुछ लोगों को बराबरी का दर्जा नहीं देता है। **बंधुत्व** से तात्पर्य है भाईचारे की भावना। बंधुत्व की भावना ही स्वतंत्रता एवं समानता को दीर्घकाल तक टिकाए रखती हैं। स्वस्थ समाज के लिए बंधुता की भावना का होना अनिवार्य है।

संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अंबेडकर सामाजिक लोकतंत्र को भारत के संदर्भ में व्याख्यायित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अंबेडकर की सामाजिक लोकतंत्र की अवधारणा समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के सिद्धांतों पर आधारित है। समानता का विचार लोकतांत्रिक जीवन का मूलभूत मूल्य है। स्वतंत्रता और भाईचारे की भावना समानता से ही उत्पन्न होती है। सामाजिक लोकतंत्र के समर्थक बिना क्रांति किए ही समाज में सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं। जब बाबा साहेब कहते हैं

कि- *"सरकार की विधि और स्वरूप जिसके तहत लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन रक्तपात के बिना लाए जाते हैं वह लोकतंत्र है।"*[1] तब उनका तात्पर्य सामाजिक लोकतंत्र से ही हैं। उन्होंने 1949 ई. में संविधान सभा के अपने अंतिम भाषण में सामाजिक लोकतंत्र की परिभाषा समझाते हुए कहा था कि - *"सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ है एक ऐसी जीवन पद्धति जिसमें स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व समाज सिद्धांत के मूल सिद्धांत होंगे।"* [2]

एक पूर्ण लोकतांत्रिक देश में स्त्रियों को भी वे सभी अधिकार मिलने चाहिए जो कि एक पुरुष को मिलते हैं। स्त्रियों के साथ जब तक समान व्यवहार नहीं किया जाएगा; तब तक सामाजिक लोकतंत्र की अवधारणा सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती हैं। समकालीन हिंदी नाटककारों ने स्त्री मुक्ति से संबंधित प्रमुख सवालों को अपने नाटकों में बड़ी मुखरता से उठाया है। इस दृष्टि से लिखे गए प्रमुख नाटक एवं नाटककार है; भीष्म साहनी का '**माधवी**', त्रिपुरारी शर्मा का '**बहू**', मीरा कांत का '**नेपथ्य राग**', नागबोडस के दो नाटक '**नर-नारी**' एवं '**खूबसूरत बहू**', नादिरा ज़हीर बब्बर का '**सकुबाई**', हृषिकेश सुलभ का '**अमली**' एवं अलकनंदन का '**चंदा बेड़नी**' आदि प्रमुख है।
भीष्म साहनी ने अपने नाटक **माधवी** में उस यातना को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है जो यातना पितृसत्ता के बोझ तले स्त्री को होती है। यह यातना केवल माधवी की नहीं है बल्कि यह यातना आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। नाटक में ययाति अपनी इकलौती पुत्री माधवी को विश्वामित्र के शिष्य गालव को दान में दे देता है और यहीं से शुरू होती है माधवी के जीवन की त्रासदी। पितृसत्ता, धर्मसत्ता एवं राजसत्ता मिलकर उसका अंत तक शारीरिक एवं मानसिक रूप से शोषण करते हैं। गालव को गुरु-दक्षिणा में देने के लिए आठ सौ अश्वमेधी घोड़े चाहिए थे, लेकिन यह घोड़े किसी एक राजा के पास नहीं थे। तब गालव माधवी को अयोध्या के राजा हर्यश्च को दो सौ अश्वमेधी घोड़ों के बदले एक पुत्र पैदा करने के लिए, एक वर्ष की अवधि के लिए विक्रय कर देता है। पुत्र पैदा होने के पश्चात यही क्रम निरंतर आगे बढ़ता है। काशी नरेश एवं भोजपुर के राजा के साथ भी गालव माधवी का ऐसा ही सौदा करता है। अंत में इन सब से भी जब गुरु दक्षिणा पूर्ण नहीं होती है तो माधवी विश्वामित्र के पास भी चली जाती है; जिसको बाद विश्वामित्र गालव को गुरु दक्षिणा के भार से मुक्त कर देता है।

नाटककार ने दिखाया है कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की देह का मूल्य एक वस्तु से ज्यादा नहीं है। पुरुष जिस तरह से चाहे उसका इस्तेमाल कर सकता है; फिर उसे संतान उत्पत्ति करनी हो या फिर अपनी कामुकता को शांत ही क्यों न करना हो। धर्मसत्ता स्त्री का किस तरह शोषण करती है वह नाटक के इस कथन के माध्यम से समझा जा सकता है- *"धर्मग्रंथों में स्त्री की तुलना पृथ्वी के साथ की गई है। जिस भाँति पृथ्वी संसार-भर का बोझ वहन करती हैं, वैसे ही स्त्री सभी दायित्वों का भार वहन करती है, उसकी शक्ति सेवा में है। पुरुष महत्वाकांक्षी होता है, पर स्त्री का प्रमुख गुण त्याग है, सेवा है।"* [3]वह अपनी कहानी, कथाओं, किस्सों में स्त्री का ऐसा ही आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। उनके आदर्श वे

ही पौराणिक, ऐतिहासिक, मिथकीय नारियाँ हैं, जिन्होंने जीवन भर अपने पति और ससुर की सेवा की थी। सीता और सावित्री इसी तरह के चरित्र है।

नादिरा ज़हीर बब्बर का नाटक **सकुबाई** एक घरेलू श्रमिक स्त्री की कहानी है। यह नाटक एकल प्रस्तुति का नाटक है। महानगरीय घरों में काम करने वाली स्त्रियों के जीवन को संवेदनात्मक ढंग से यह नाटक हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। सकुबाई कहती हैं - *"कोलगेट तक खुला छोड़कर गए हैं। उनको पता है ना आएगी सकुबाई। करेगी सारा काम... करेगी बाबा, करेगी।... अरे पर सौ काम हैं। पाँच तो तुम करके जाओ... लेकिन नहीं, सब लोग यही सोचते हैं कि बाई रखी है तो हम काम क्यों करें। फोकट की पगार देते हैं क्या?"* [4]घरों में काम करने वाली स्त्रियों के जीवन के विविध पक्षों को हमारे सामने लाने का कार्य सकुबाई करती हैं। उन्हें न स्वतंत्रता होती है और न ही उनके पास कोई विकल्प होता है। सकुबाई कहती है- "*...हम लोग दिन-रात मेहनत करते हैं। मेहनत करते-करते बूढ़े हो जाते हैं... और मर जाते हैं। न हमें कोई हमें पूछता है न याद करता है।... अरे रोने और याद करने के लिए भी तो टाइम चाहिए...। और टाइम है किसके पास...?... फिर छुट्टी हमें कौन देगा...? एक-दो दिन बस...। ज्यादा छुट्टी करेंगे तो दूसरी बाई रख लेंगे।*" [5]

नाटककार मीरा कांत का नाटक 'नेपथ्य राग' सदियों से नेपथ्य में खड़ी स्त्री के शोषण की कथा कहता है। इस नाटक में चौथी-पाँचवी शताब्दी के चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के शासनकाल की कहानी है। इस समय एक ग्रामबाला खना की ज्ञान-प्राप्ति कि तृषा उसे साहित्य व कला के धाम उज्जयिनी ले आती है। खना अपनी विद्वता से विक्रमादित्य की सभा में सम्मिलित होने की योग्यता रखती है। लेकिन सभा के अन्य पुरुष सदस्यों को इसमें अपनी बेइज्जती महसूस होती है कि अब उनके सामने भरी सभा में एक स्त्री अपनी बात रखेगी। सभासद इस शर्त पर तैयार होते हैं कि खना की जिव्हा काट दी जाए। यह होती है पितृसत्ता की क्रूरता। खना कहती है- *"स्त्री सभासद... पिताश्री, आप तो व्यर्थ ही चिंतित है। श्रावण क्या यह तो आषाढ़ से भी पहले के मेघ हैं। बरसेंगे नहीं। आषाढ़ अभी नहीं आया... नहीं आया... आषाढ़ आने में कई संवत्सर बीत जाएंगे... कई युग... यह नेपथ्य हैं... इसे मंच तक पहुँचने में समय लगेगा... कल्पान्त... कई युग...।* [6] स्त्री की योग्यताएं, क्षमताएं, शक्तियां और विद्वत्ता नेपथ्य में ही पड़ी की पड़ी कराहती रह जाती है। उनकी आवाज तक सुनने वाला कोई नहीं होता है। और कुछ बोलती है तो उनकी जिव्हा काट दी जाती है।

प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं नाटककार त्रिपुरारी शर्मा का नाटक 'बहू' सामंती संस्कारों से जर्जर ग्रामीण समाज में विधवा हो गई एक युवती की निजी और पारिवारिक स्थिति का मर्मस्पर्शी दस्तावेज है। एक स्त्री का दैहिक और भावनात्मक शोषण सबसे अधिक उसका अपना परिवार ही करता है। इस नाटक की केंद्रीय चरित्र बहू पितृसत्ता के भीतर ही अपने लिए एक रास्ता निकालने की कोशिश करती हैं। वह पितृसत्ता के छलावे में आने से बचती हैं। एक स्त्री का शोषण केवल पुरुष ही नहीं करते हैं बल्कि पितृसत्ता के स्वरूप में ढली स्त्रियाँ भी उसका शोषण करने में पीछे नहीं रहती हैं। अर्थात पितृसत्ता केवल पुरुषों द्वारा चलायी जाने वाली संस्था नहीं है, स्त्रियाँ भी इसमें महत्वपूर्ण भागीदारी निभाती है। बहू कहती है - *"हां ऊँचा बोल लेती हूँ, लड़ाकी हूँ, लेकन जरा समझ कर तो वेखो। मेरे आदमी ने क्या दिया। दुनिया में*

बाट के मेरी हिक में जहर भरता रहा...... कलेजा फट गया लेकिन अँधेरे में कली सड़दी रही। किसी ने मुड़ के पूछा? होर, उसदे बाद मेरा वी जैसे सबकुछ मर-खप गया हो।" [7] इस तरह हम देखते हैं की बहू अपना प्रतिरोध भी दर्ज करती हैं।

हिंदी की लोक बोलियों में नाटक लिखने वाले नाटककार नागबोडस का प्रसिद्ध नाटक 'खबसूरत बहू' अपने हास्य-व्यंग्य के जरिए स्त्री के प्रति पुरुष मानसिकता पर चोट करता है। इस नाटक में गाँव के कुछ युवक एक नई-नवेली बहू पर आसक्त हो जाते हैं एवं किसी भी तरह से उसे देखना चाहते हैं। गाँव का एक युवक लाखन कहता है- *"भगवान! अरे भगवान! ये कैसा इंसाफ है रे तेरा? हरिया के वास्ते हेमामालिनी, और मेरे वास्ते कोयला की बोरी? तू बड़ा निर्दयी है रे भगवान!"* [8] दरअसल यह युवक गाँव की खूबसूरत बहू सुमन की तुलना अपनी साँवली पत्नी से कर रहा है और उसे 'कोयला की बोरी' संबोधित कर रहा है। यही है हमारे समाज में एक स्त्री के प्रति पुरुष मानसिकता की सच्चाई! इस तरह की निम्न सोच को नाटककार ने परत-दर-पर पाठकों के समक्ष उघाड़ कर रख दिया है।
निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी नाटककारों ने अपने नाटकों के माध्यम से स्त्री जीवन से जुड़े अनेक आयामों को छूने का प्रयास किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. जाधव, डॉ. नरेंद्र (सं.), ***डॉ. आंबेडकर राजनीति धर्म और संविधान विचार***, प्रभात, प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या 215
2. त्रिशरण, डॉ. विजय कुमार, ***बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर और लोकतंत्र***, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 28
3. साहनी, भीष्म, ***माधवी***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तेरहवां संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या 47
4. बब्बर, नादिरा ज़हीर, ***सकुबाई***, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 17
5. बब्बर, नादिरा ज़हीर, ***सकुबाई***, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 49
6. कांत, मीरा, ***नेपथ्यराग,*** भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 62
7. शर्मा, त्रिपुरारी, ***बहू /अक्स पहेली***, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृष्ठ संख्या 25
8. बोडस, नाग, ***खबसूरत बहू***, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 39

दिव्यप्रकाश, शोधर्थी,

भारतीय भाषा केंद्र भाषा,

साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

Mob. No. ***8120084616 ; Email id - divyaprakashrajput2@gmail.com***

(शोध आलेख)

पूर्वी भारत में शैव साहित्य का अनुशीलन

बिश्वजीत कलता

भारत में शैव उपासना की गहरी परंपरा विद्यमान रही है। प्राक् आर्यकाल हड़प्पा समय में भी शिव को लिंग रूपी शिष्णदेव के रूप में पूजते थे। धर्म संहिता, वायवीय सहिंता, सूत्र संहिता, नारद पंचरात्र, नंदी पुराण, महानिर्वाणतंत्र, रुद्रयामल तंत्र आदि शास्त्रों में शिव उपासना को एक शास्त्रीयता प्रदान की गई है। दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध जहाँ एक ओर से तुर्की आक्रमण और दूसरी ओर से सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के चलते पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म और इसकी अनेक शाखा-उपशाखाओं में प्रकाशित सहजिया धर्म और नाथ धर्म में स्तंभ रूपी शिलाओं को शिव के प्रतीक के रूप में आराधना की जाने लगी। फलस्वरूप इसी समय इस धर्म में शाक्त तान्त्रिक तत्व का समावेश होकर नटराजन, भैरव, रुद्र, निरंजन आदि आराध्य उत्पन्न हुए जिनको शिव या आदिनाथ के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे ओड़िशा, बंगाल, असम, मिथिला आदि पूर्वी भारतीय क्षेत्रों में शास्त्रीय शिव से इतर एक अलग शैव धर्म और उनसे संबंधित आख्यान, मिथक आदि साहित्य के रूप में प्रचलित होने लगे।

पूर्व भारतीय शैव साहित्य में शक्ति के साथ सम्मिलित शिव का जिस प्रकार अंकन हुआ है वह वास्तव में भारत के अन्य शैव साहित्य से अलग है। यहाँ पूर्वी भारतीय साहित्य में शिव न तो एक शास्त्रीय देव है, न उनमें अपूर्व तेज है, न वह गरल पान करने वाले संहार कर्ता है और न ही उज्ज्वल मूर्ति धारण करने वाले आदि शंकर है बल्कि वह श्रमिक किसान, मसानवासी बृद्ध दूल्हा है जिसके मुँह से लार टपक रही है, आँखें धँस गयी हैं, दाँत झड़ गए हैं आदि, लौकिक रूप में चित्रित हुए हैं। बंगाली, मैथिली, असमी और ओड़िआ साहित्य में शिव अलौकिक स्वर्गीय शिव नहीं हैं, वह सामान्य व्यक्ति है, जो किसान, पशुपालक, दंपति तथा सांसारिक दारिद्र्यता से जूझ रहा है। शिव और पार्वती के लौकिक रूप को लेकर, उनके विवाह और सांसारिक गतिविधियों को मैथिली, असमी, बंगाली और ओड़िआ साहित्य में भरपूर अवगाहन किया गया है।

शिव और पार्वती के विवाह एवं उनके सांसारिक जीवन चर्या पर आधारित 'कलसा चौतिशा' ओड़िआ शैव साहित्य की विशेष रचना है। इसके रचयिता 'वस्ता दास' हैं जिनका समय सारला दास से पूर्व माना जाता है। कलसा चौतीसा में वस्ता दास ने शिव और पार्वती के विवाह को लौकिक परंपरा और लोक संस्कृति की रीति-नीति से चित्रित किया है। तभी यहाँ शिव एक अभिजात्य, सुन्दर वर नहीं

है बल्कि वह मशान में लेटने वाले एक बुढ़ा वर है। जिसकी आँखें धस गई हैं, मुहँ से लार टपक रही है और फटे वस्त्र पहने हुए हैं-

खूँ खूँ कास साहासेण पेलुअछि धइं

खर निश्वाश बुढार मथा लागे भुईँ।

घटघट होई नाले बहई तुंडर

घन घटा लत्वारात बांधिछी मुंडर।

छिन्न अंगे छिड़ा कंथा लागिछी ताहार

छार पाऊंश लोचाए लेपिछी शारीर।[1]

(खूँ खूँ खास रहा है, सांस लेते हुए ध्वनि निकल रही है, वृद्ध शिव का शरीर झुक कर भूमि को स्पर्श कर रहा है। उनके मुहँ से लार निकल रही है और अपने घने बालों को सर पर जटा रूप में बाँधा है। शरीर फटे हुए वस्त्र और राख से छिन्न भिन्न दिख रहा है।)

ऐसे दूल्हे को कौन माँ अपनी बेटी व्याह देगी। इसीलिए पार्वती की माँ मेनका आक्षेप से कह रही है इस बूढ़े और कुरूप वर को शादी करने से बेहतर हम माँ-बेटी विष खाकर मर जाना पसंद करेंगे-

नाहिंकि राज्यरे मध्ये राजार कुमर

निर्लज बुढाकु सुन्दरिकी कल वर।

नोहेले वुडीवु माए झिअ दुहें होई

नोहेले मरिवु सहस्तर विष खाई।[2]

(शिव और पार्वती के विवाह की इच्छा पर्वतराज से सुनकर माता मेनका कह रही है- क्या इस राज्य के राज कुमार समाप्त हो गए हैं, जो इतनी सुन्दर कन्या हो कर एक बूढ़े को वरण करने जा रही है। अगर ये शादी होगी तो सबसे पहले हम दोनों माँ-बेटी डूबेंगे या विष खाकर दोनों खुसी खुसी मरेंगे।)

'कलसा चौतिसा' को वत्सा दास ने चौतिसा छंद में लिखा है। चौतिसा एक प्राकृत और प्राचीन छंद है जिसमें ओड़िआ के 34 व्यंजन को क, ख अक्षर क्रमादी से पाद का आरंभ होकर क्ष तक चलता है। ओड़िआ साहित्य में इसका विशेष स्थान है इस छंद में 'राधा दर्शन चौतिसा', 'अमृत निधि चौतिसा', 'नवघन चौतिसा', आदि अनेक रचनाएँ हैं। शिव और पार्वती का इस प्रकार लौकिक चित्रण उस समय

में पूर्वी भारतीय भूखंड में देखने को मिलता है। जिसमें ओड़िआ साहित्य के अलावा मैथिली, बंगला, असमिया आदि साहित्य में भी शिव-पार्वती को लोक आधार में चित्रित किया गया है।

मैथिली साहित्य में विद्यापति ने शिव-पार्वती को आधार बनाकर अनेक गीत रचे हैं जो काफी लोकप्रिय हुए हैं। ये गीत आज भी अनेक माँगलिक अवसर पर नर नारी गाते हैं। ये गीत मुख्यतः शिव-पार्वती विवाह एवं उनके दाम्पत्य और गृहस्थ जीवन को लेकर लिखे गये हैं। शिव को देखकर गौरी के मन में उनके प्रति आकर्षण पैदा होता है और वह माता मेनका को पूछती है कि ये सन्यासी कौन है? माता मेनका कह रही हैं-

"तिनि नयन हर वीसन जर दहनु

उमा मोरि ननूमि हरह जनु

भनई विद्यापति सुन जगमाता

ओ नहीं उमत त्रिभुवन दाता।"[3]

ये तीन नयन वाले शिव हैं, ये सब के दुःख हरते हैं और त्रिभुवन के कल्याणकारी है। उसके बाद पार्वती शिव के सर्पधारी, जटाबन्ध, अघोरी, सन्यासी रूप को देख कर अचम्भित रह जाती है-

एतए कतए असल जाति, गौरी अछि तपे

राजारे कुमारी वेटी डरव देखि सापे

तोड़व मोयूं जटाजूट फोड़व वोकाने

हटल नामान जाति होएत अपमाने [4]

शिव का यह विचित्र रूप और मसान युक्त शरीर देखने के बाद भी गौरी उनके प्रति सम्मोहित होकर शिव को पति रूप में स्वीकार करती हैं। इसके उपरांत विवाह के माँगलिक आचार आरंभ होते हैं, परंतु जो वर खीर छोड़कर गांजा पीने को उन्मत्त है उसके साथ कौन जननी अपनी बेटी की शादी कराएगी-

"खिरि न खाए हर चुकती गंजाए

एइन उमत कोने जे हल जमाए।"[5]

(शिव खीर छोड़कर गांजा दल रहे हैं, इस प्रकार के पागल वर कौन पार्वती के लिए लाया है ऐसा मेनका सोच रही हैं)

असमिया साहित्य में भी शिव और पार्वती का जो चित्रण मिलता है वह ज़्यादातर लौकिक है। कवि राम सरस्वती रचित 'भीम चरित' इस श्रेणी में विशेष उल्लेखनीय हैं। राम सरस्वती असमियाँ साहित्य के कविवर शंकर देव के समसामयिक थे। भीम चरित में शिव कृषक और पार्वती कृषक पत्नी के रूप में चित्रित हुए हैं। बंगला 'शिवायन' काव्य में पांडव भीम को जिस प्रकार शिव के सहचर के रूप में वर्णित किया गया है उसी प्रकार कवि राम सरस्वती के भीम चरित में भी शिव के भृत्य के रूप में भीम को दिखाया गया है।

राम सरस्वती भीम चरित की कथावस्तु को इस प्रकार बुनते हैं, एक बार वनवासी भीम अत्यंत भूख से पीड़ित होकर युधिष्ठिर के उपदेश के अनुसार शिव के पास कैलास की ओर चल देते हैं-

एकदिना भीम बोले राजार आगत।

शुकाई गैलव देह अन्नर दुःखत।।

मेलानी दियोक दादा कैलाशक जाओं।

महादेवर गुरु चारि प्राण प्रवर्ताओं।।[6]

(भीम युधिष्ठिर से आज्ञा माँग रहे हैं कि वह कैलाश पर्वत पर महादेव के पास जाकर शिव, पार्वती, गणेश और कार्तिक चारों प्राणी के साथ रहना चाहते हैं।)

इसके बाद भीम ने कैलाश जाकर शिव से भृत्य अनुग्रह की अभिलाषा प्रकट की। शिव कहते हैं अच्छा हुआ गणेश और कार्तिक बैल चरा ही रहे हैं, जाओ तुम भी उनके साथ बैल चराओ फिर तुम्हे भरपूर खाना मिलेगा। पार्वती इस प्रस्ताव से असंतुष्ट होकर भीम को कहती है-

"पार्वती वोलय शिशु मोर घरे थाक।

येतेक लगया मान अन्न दिन ताक।।

एगुटी बलद जाना मोहर घरव।

कार्ति गणपति दुयो चरिवे लगत।।"[7]

(घर में अन्न कम है और हमारे भी दो दो शिशु है, ये भीम तो बैल बराबर खाएगा और कार्तिक गणेश के लिए क्या बचेगा। वह क्या जमीन चरने जायेंगे।)

जो भी हो आखिरकार भीम अपने पेट के लिए बृषभ पालक के रूप में नियुक्त हुए। बैल चराने के बाद लौटकर भरपूर भोजन करते थे। इससे शिव के घर में खाद्यान्न धीरे धीरे समाप्त होने लगा। पार्वती कह रही हैं भिक्षा के अन्न से अब इनका पेट भरना मुश्किल है अब खेती की जाए-

पार्वती बदती प्रभु शुन त्रिलोचन।

एकबार कृषि करिवे दिय मन।।

भिक्षार चाउले जाना पेट न पुरय।

खाइंच न पाई गरखिया आराव करय।।[8]

(पार्वती शिव को खेती करने के लिए कह रही है। अब भिक्षा वृत्ति से इनका पेट भरना मुश्किल है और अन्न भरपूर नहीं होगा तो वह मुफ्तखोर भीम आफत करेगा।)

पार्वती की बात सुनकर शिव कहते हैं हमने कभी खेती की ही नहीं हमारे लिए यह बहुत दुसाध्य होगी-

''दुष्कर कृषिक मइ करिते किमत।

नाइँ कड़ाकड़ी धन मोहर घरत।।''[9]

(महादेव कह रहे हैं यह दुष्कर कृषि कार्य मेरे द्वारा नहीं हो पायेगा और ना ही खेती के लिए हमारे पास साधन है।)

पार्वती की बुद्धि से भूमि और हल स्थिर हुआ। हल के लिए यम ने अपना भैंस दिया उसके साथ शिव अपने बृषभ को लेकर हल चलाते है। इस प्रकार शिव और पार्वती ने कृषि कर्म आरंभ किया।

असम में अभी भी विवाह के तीन दिन बाद नवविवाहिता वर-वधू को यह भीम चरित सुनाने की प्रथा प्रचलित है। असमिया भीम चरित में शिव पार्वती विवाह वर्णित होने के बावजूद उनका सांसारिक और गृहस्थ जीवन का चित्रण अत्यंत लौकिक रूप में हुआ है। बंगला साहित्य में भी कवि रामेश्वर अपनी 'शिवायन' रचना में शिव और पार्वती को कृषक दम्पत्ति के रूप में चित्रित करते है। बंगला साहित्य में भी शिव और पार्वती के ज्यादातर लौकिक चित्रण संबंधी मंगलकाव्य की भरमार है। मुकुंदराम की 'चंडी मंगल' अष्टादश शताब्दी की रचना है जिसमें शिव और पार्वती के अनेक लौकिक प्रसंगों की उद्भावना हुई है। जैसे मुकुंदराम के शिव अपने मन पसंद का खाना बनाने के लिए पार्वती को कह रहे हैं और इसके लिए वह सामान्य बोली में जैसे उन्हें गणेश की माँ संबोधन कर रहे हैं-

''आजि गणेशर माता रांध मोर मत,

निमे निमे वेगुने रंधिया दिवे तित।"[10]

(गणेश की माता आज मेरे मन मुतबिक खाना बनाओ, निम और बेगुन की शाग तैयार करके खिलाओ।) और जैसे एक सामान्य पति अपनी पत्नी को गृहस्थ कर्म में लगने के लिए जल्दी नहाने धोने को कहता है, वैसे ही महादेव अपनी पत्नी गौरी को कह रहे हैं-

"घृत जीरा सन्तलने रान्धिवे पालंग,

झट स्नान कर गौरी करना बिलम्ब।।"[11]

(शिव गौरी को बिना देरी किए नहाने को कह रहे हैं क्योंकि इसके बाद उन्हें पालंग सब्जी को घी और जीरा के साथ प्रस्तुत करना है।)

हिंदी साहित्य में भी शिव और पार्वती के विवाह और दाम्पत्य जीवन को आधार बनाकर तुलसीदास ने 'पार्वती मंगल' में शिव का लौकिक चित्रण किया है। पार्वती मंगल काव्य में वरयात्री शिव और उनके अघोरी दल को देखकर ग्रामवासी भय में पलायन कर आपस में बातचीत कर रहे हैं कि कहाँ से यह भूत, प्रेत, वैताल का दल वर यात्री में आ गया।

"प्रेत, वैताल वरातक भूत भयानक

वरदचढ़ा वर वाउर सुवाई सुवानक।"[12]

दक्षिण भारतीय साहित्य में भी इस काल खंड में शैव धर्म मुख्य अभिमुख्य के रूप में प्रकाशित हुआ था। कन्नड साहित्य में कवि हरिश्वर ने चम्पू पद्धति में 'गिरिजा कल्याण' काव्य की रचना की थी। इसमें दस छंदों में शिव-पार्वती विवाह की कथावस्तु को चित्रित किया गया है। तेलुगु साहित्य में भी द्वादश शताब्दी से षोडश शताब्दी तक शिव पार्वती लीला को क्रमश: मल्लिकार्जुन पंडित, नाने चोड़ और पल्लकुनिक आदि कवियों ने कई रचनाएं की।

वास्तव में पूर्वी भारतीय शैव साहित्य में शिव के शास्त्रीय रूप और अलौकिक कथा से इतर एक नवीव धारा विकसित हुई। जिसमें शिव और उनकी लीलाओं को सामान्य, लौकिक धरातल पर अंकन करने का प्रयास बंगाल, असम, ओडिशा, मिथिला आदि क्षेत्रों में दिखता है। बंगाली, असमी, ओड़िआ   और मैथिली साहित्य में शिव और पार्वती किसान, श्रमिक, पशुपालक रूप में आते हैं जो आम जनमानस के समीप पाए जाते है। इस प्रकार शास्त्रीय देव-देवियों को लौकिक रूप में वर्णना करना मानवीय आशा, आकांक्षा और सुख-दुःख में उन्हें अंतर्भुक्त करना अत्यंत मर्मस्पर्शी है। इसीलिए यह मंगलकाव्य आज भी गीत रूप में अनेक शुभ अवसर या कृषि कर्म के लिए जन सामान्य के मुख पर

उच्चरित होता है, वह चाहे कलसा हो, चाहे भीम चरित हो या फिर विद्यापति के गीत। शिव-पार्वती लीला प्रसंगों को जनग्राही करने के लिए उनके साधारण गृहस्थ जीवन तथा कृषक जीवन को आधार बनाकर अलौकिक पुराण को लौकिक साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिये यह पूर्वी भारतीय शैव साहित्य का जो उद्यम हुआ है वह भारतीय भक्ति साहित्य में उज्जवल और अनवरत रहेगा।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ-</u>

1. वत्सादास, कलसा चौतिसा, पृष्ठ-12
2. वही, पृष्ठ-19
3. सुरेन्द्र महान्ति, ओड़िआ साहित्यर आदिपर्व, पृष्ठ-60
4. वही, पृष्ठ-61
5. वही, पृष्ठ-6
6. राम सरस्वती, भीम चरित, पृष्ठ-23
7. वही, पृष्ठ-28
8. वही, पृष्ठ-58
9. वही, पृष्ठ-58
10. Dr. Sukumar, Sen, History of Bengali literature, Sahitya academi, page-71
11. वही, पृष्ठ-75
12. तुलसी दास, पार्वती मंगल, गीता प्रेस, पृष्ठ-25

बिश्वजीत कलता,

शोधार्थी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

संपर्क- kaltarilu@gmail.com , 8917461954

(शोध आलेख)

प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थ और दलित चेतना का पुनर्मूल्यांकन

('ठाकुर का कुआं' और 'कफ़न' कहानी के विशेष संदर्भ में)

प्रांजलि देवी

शोध सार

प्रस्तुत शोध आलेख में प्रेमचंद की कहानियों में वर्णित दलित चेतना का वर्णन किया गया है। इसका उद्देश्य प्रेमचंद की सर्वाधिक विवादास्पद कहानियों 'ठाकुर का कुआँ' एवं ' कफ़न' का विश्लेषण करके विभिन्न आलोचकों के दृष्टिकोणों को उजागर करना है। प्रेमचंद का सृजन काल 1907ई से 1936 ई. के बीच था। यह भारतीय स्वतंत्रता के क्रांतिकारी आन्दोलनों एवं सामाजिक सुधारों का समय था। इस समय भारतीय समाज में अस्पृश्यता, जातिगत-भेदभाव, साम्प्रदायिकता, अकर्मण्यता, हीनता बोध आदि विशेषताएं विद्यमान थी। जो कि स्वाभाविक है कि किसी बड़े रचनाकाल के लेखन पटल का आधार बन गई और तत्कालीन समाज का साहित्यिक दस्तावेज बनी। प्रस्तुत आलेख में प्रेमचंद की दलित चेतना का पुनर्मूल्यांकन किया गया है और कोशिश की गई है कि प्रेमचंद की कहानियों को किसी जाति, धर्म, लिंग और वर्ण के कठघरे से बाहर लाकर स्वतंत्र विश्लेषण किया जा सके। कारण यह है कि अभी तक अधिकतर विद्वानों ने प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियों को जाति एवं वर्ण के चश्मे से देखा है।

बीज शब्द

साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, पुनर्मूल्यांकन, औपनिवेशिक भारत, औद्योगिकीकरण, दलित विमर्श, महाड़ सत्याग्रह, यथार्थवाद, नारी अस्मिता आदि।

शोध आलेख

किसी भी लेखक या कृति पर विचार करने से पहले उसके समय की साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक होता है। प्रेमचंद का रचनाकाल 1907 से 1936 के मध्य का रहा जो कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता से भारतीयों के संघर्ष का काल था। भारत में अनेक सामाजिक समस्याएँ एवं रुढियाँ जैसे कि धर्मांधता, सांप्रदायिकता, अस्पृश्यता एवं छुआछूत आदि कण-कण में विद्यमान थी। इसलिए प्रेमचंद के लेखन में यह स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई हैं। प्रेमचंद पर बहुत से आरोप-प्रत्यारोप लगते रहते हैं; जो कि प्रेमचंद को साहित्य के केंद्र से नीचे गिराने की साजिश के तहत प्रायोजित प्रतीत होते हैं। प्रेमचंद को 'घृणा का प्रचारक', 'ब्राह्मण विरोधी' 'सामंतवाद का मुंशी', 'दलित विरोधी' एंव 'स्त्री विरोधी' उपाधियों से नवाजा गया है। प्रेमचंद के बारे में आलोचकों ने जो आलोचना की है वो दरअसल छह अन्धों एवं हाथी वाली कहानी की याद दिलाती

है कि जिस प्रकार अंधों ने हाथी की पूंछ, सूंड, पांव, और पेट छूकर अपने-अपने निष्कर्ष बता दिए थे; उसी प्रकार इन तथाकथित आलोचकों ने अपने अपने संकुचित ज्ञानानुसार 'स्त्री विरोधी', 'दलित विरोधी' एवं 'सामंतवाद का मुंशी' जैसी व्याख्या की है किंतु अपने समय एवं प्रेमचंद युगीन परिस्थितियों में अंतर नहीं किया है। यही कारण है कि प्रेमचंद के साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की माँग हमेशा उठती रहती है। हालांकि प्रेमचंद के विषय में विचार तो बहुत किया गया है लेकिन मूल्यांकन की दृष्टि से देखें तो 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' वाला हाल रहा है।

प्रेमचंद ऐसे समय के रचनाकार है ,जब साहित्य में विमर्शों का प्रवेश नहीं हुआ था। जो भी लेखन था, वह समाज की संवेदनात्मक अनुभूति के अनुसार था। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में अपने समय के यथार्थ को व्यक्त किया है, जिसमें दलितों ,शोषितों और खेतिहर मजदूरों की सामाजिक व्यवस्था के हाथों रची गई अमानवीय स्थितियों का स्पष्ट अंकन है। दलित विमर्श के उत्स की बात करें तो वह प्रारंभिक रूप में प्रेमचंद साहित्य की ही देन है। हालांकि अस्सी के दशक में विकसित हुए दलित साहित्य का प्रेमचंद के साहित्य में घालमेल करके प्रेमचंद को खारिज करना कोरी विमूढ़ता है। वर्तमान में नए-नए आलोचक ध्यानाकर्षण में आने के लिए मूल्यांकन की बाढ़ लेकर आ गए हैं। प्रस्तुत आलेख में प्रेमचंद की कहानियों के विषय में प्रमुख आलोचकों के मत का पुनर्मूल्यांकन 'ठाकुर का कुआं' एवं 'कफ़न' कहानी के विशेष संदर्भ में किया जाएगा। इसी क्रम में साहित्य के पुनर्मूल्यांकन यथार्थ एवं दलित चेतना का भी वर्णन किया जाएगा।

समाज के बारे में संवेदनशील समझ के बिना साहित्य को समग्रता में नहीं समझा जा सकता, चाहे वह आदिकाल का साहित्य हो, भक्तिकाल का साहित्य हो, रीतिकाल का सहित्य हो या फिर आधुनिक काल का साहित्य हो। आदिकाल का मूल्यांकन न हम 19वीं सदी के औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियों में कर सकते हैं और न ही वर्तमान के नगरीकरण एवं औद्योगिकीकरण के संदर्भ में। इसी प्रकार आधुनिक काल का मूल्यांकन भी आदिकालीन या भक्तिकालीन सामाजिक परिस्थितियों में नहीं किया जा सकता। कहने का आशय यह है कि रचना का मूल्यांकन रचना समय से प्रभावित होता है, रचनाकार सृष्टा की अपेक्षा दृष्टा अधिक होता है, जो अनुभव करता है उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति होती है। 'साहित्य का उद्देश्य' नामक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं कि "**अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा और भी कुछ उद्देश्य है अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग- वियोग की कहानी नहीं सुनाता,अपितु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है,उन्हें हल करता है किंतु उसे उन प्रश्नों में दिलचस्पी है जिनसे सामान्य या व्यक्ति गहरे प्रभावित होते हैं।**"[1] अतः साहित्य का स्वरूप समय के अनुसार बदलता रहता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब भी किसी साहित्य का सृजन होता है तो वह वास्तविकता की अनुभूति या अनुभूति की वास्तविकता के आधार पर होता है न कि विमानों को केंद्र में रखकर साहित्य सृजन का कार्य प्रारंभ किया जाता है। प्रेमचंद के साहित्य की बात करें तो 'ठाकुर का कुआं' (1932) एवं 'कफ़न' (1936) जैसी कहानियां अनुभूति की वास्तविकता की अभिव्यक्ति है।

साहित्य को विभिन्न दृष्टियों से देखना एवं मूल्यांकन करना साहित्य की लोकतांत्रिकता का प्रश्न है, लेकिन जब 'विशेष जाति', 'विशेष धर्म', 'विशेष वर्ग', 'विशेष समुदाय', की दृष्टि से देखेंगे तो पुनर्मूल्यांकन की माँग हमेशा उठती रहेगी। प्रश्न यह भी है कि साहित्य को 'विशेष संदर्भ' में देखना कितना उचित है? साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की बढ़ती माँग के संदर्भ में नामवर सिंह ने विचार करते हुए लिखा है कि **"इतिहास में किसी साहित्यकार, साहित्यिक कृति के प्रति अथवा साहित्यिक युग का पुनर्मूल्यांकन करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि केवल नवीन- मूल्यांकन भर न हो। इस बात की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है कि इधर पुनर्मूल्यांकन के नाम पर कोरी नवीनता और मौलिकता का प्रदर्शन हुआ है।"**[2] अतः साहित्य का मूल्यांकन स्वतंत्र एवं समग्र रूप में पूर्वाग्रह मुक्त होकर करना चाहिए; रचना के समय परिस्थिति एवं परिवेश के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। वर्तमान में प्रेमचंद की कहानियों का पुनर्मूल्यांकन 25-30 वर्ष पुराने दलित साहित्य/ विमर्श की दृष्टि से करने पर ही दलित विरोधी साबित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रेमचंद्र जिस समय लिख रहे थे उस समय के मुख्य विषय जमीदारों-महाजनों और सरकारी अमलों द्वारा किसानों का शोषण, मजदूरों की दयनीय स्थिति, अंग्रेजों की क्रूरतम नीतियां आदि थे। दलितों के मुद्दों को भी इन्हीं के अंतर्गत समाहित करके वर्णित करके किया गया है। गांधीजी ने दलितों की समस्या पर ध्यान दिया और उसके बाद आर्य समाज एवं अंबेडकर अछूतोद्धार, जातिवाद एवं अस्पृश्यता की समस्या को केंद्र में लेकर आए। प्रेमचंद स्वयं आर्य समाजी थे, अत: उन पर आर्य समाज का प्रभाव आना स्वाभाविक था। दूसरी तरफ अंबेडकर 1927 ई. के महाड़ आंदोलन का प्रभाव भी प्रेमचंद की कहानियों में दिखाई पड़ता है| 'ठाकुर का कुआं' कहानी को महाड़ आंदोलन की साहित्यिक परिणति के रूप में देखा जा सकता है। 1927 ई. में महाड़ आंदोलन तालाब के पानी को लेकर हुआ था। इस तालाब में जानवरों, पशु- पक्षियों को पानी पीने का अधिकार था, लेकिन दलितों को पीने क्या छूने तक तक का अधिकार नहीं था। प्रेमचंद गंगी के चरित्र के माध्यम से इसी घटना का जिक्र करते हैं। कह सकते हैं कि प्रेमचंद पर गांधी, अंबेडकर और आर्य समाज का प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्रेमचंद की आरंभिक दौर की कहानियों एवं अंतिम दौर की कहानियों में दलित चेतना, हीन भावना, छुआछूत आदि का दबा हुआ स्वर धीरे-धीरे आक्रोशित रूप धारण करता है। यह अंतर हम वर्ष 1913 ई. में प्रेमचंद द्वारा लिखी गई कहानी 'सिर्फ एक आवाज' में अभिव्यक्त दलितों की सहानुभूति, ,सामान्य मनुष्यता, सामान्य सदाचार का समर्थन करते हैं तो वहीं दूसरी तरफ वर्ष 1932 ई. में लिखित 'ठाकुर का कुआं' के एक अंश प्रेमचंद ब्राह्मणवादी, ढोंगी एवं खोखली उच्चवर्गीय व्यवस्था के बारे में कहते हैं कि **"हम क्यों नीच हैं और ये लोग ऊंच हैं? इसलिए कि यह लोग गले में तागा डाल लेते हैं ? यहां तो जितने हैं एक से एक छटे हैं। चोरी ये करें,जाल फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बिचारे गडरिया की एक भेड़ चुरा ली और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पंडितों के घर में बारहो मासा जुआ होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजदूरी देते नानी मरती है। किस बात में हैं, हमसे ऊंचे?**

कभी गांव में आ जाती हूं तो रसभरी आंखों से देखने लगते हैं, जैसे सब की छाती पर सांप लोटने लगता है परंतु घमंड यह है कि हम ऊंचे हैं।"[3] प्रेमचंद की कहानियों में दलित पात्र विरोध तो करते हैं परंतु सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण मुंह बंद करना पड़ता है। यह बात तो हुई प्रेमचंद की कहानियों में दलित चेतना, दलित वर्गों के उत्तरोत्तर संघर्ष की। अब 'ठाकुर का कुआं' एवं 'कफ़न' के संदर्भ में चर्चा की जाएगी।

' ठाकुर का कुआं' वर्ष 1932 ई. में प्रकाशित प्रेमचंद की प्रमुख कहानी है जिसमें वर्ग संघर्ष, जातिगत भेदभाव, छुआ-छूत ,दलित स्त्रियों की पीड़ा एवं ऊंची जातियों के वर्चस्व का वर्णन किया गया है। यह कहानी स्वतंत्रता पूर्व के भारतीय गांवों में दलितों की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें स्वच्छ पानी की समस्या को अमीर एवं गरीबों के बीच में एक खाई के रूप में चित्रित किया गया है। जोखू कहता है कि "**गरीबों का दर्द कौन समझता है ! हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुंआर झांकने नहीं आता,कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे?**[4] "यह समस्या प्रेमचंद के समय ही नहीं थी आज भी भारत के गांव में देखने को मिल जाती है। भक्तिकाल में भी रैदास लिख लिख रहे थे कि **"जात-पात के फेर मंहि, उरझिया रहई सब लोग। मानवता कूं खात हई, रैदास जात कर रोय।।** [5] और वर्तमान समय में दलितों की वास्तविकता एंव स्थितियों के बारे में अदम गोंडवी लिखते हैं कि "**कहती है सरकार आपस में मिल जुल कर रहो, सूअर के बच्चों को अब कोरी नहीं हरिजन कहो"**|[6] कहने का आशय यह है कि भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक दलितों की संवेदनाओं पर लिखा तो खूब गया है लेकिन जैसा वर्णन प्रेमचंद ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रेमचंद एक घटना के सहारे पूरे समाज के संघर्ष को परत-दर-परत खोलते हैं। रचना प्रकाशित होने के बाद लेखक से स्वतंत्र हो जाती है लेकिन दूसरी रचनाओं से नहीं। मूल्यांकन के दौरान विभिन्न विचारों, दृष्टिकोणों एवं सिद्धांतों से गुजरते हुए रचना अपना प्रभाव छोड़ती हैं, और अन्य रचनाओं से प्रतिस्पर्धा भी करती है। इस संदर्भ में नामवर सिंह ने 'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में लिखा भी है कि "**यदि व्यक्ति के मूल्यांकन के लिए समाज में दूसरे व्यक्ति हैं तो किसी रचना के मूल्यांकन के लिए साहित्य में भी दूसरी रचनाएं हैं। व्यक्तियों की तरह रचनाएं भी परस्पर संबद्ध होती है और एक दूसरे को प्रभावित करती रहती** हैं। "[7]

'कफ़न' प्रेमचंद की ऐसी कहानी है जो सार्वकालिक एवं सार्वदेशीय श्रेष्ठता में अग्रणी स्थान रखती है। इस कहानी में भूख को माध्यम बनाकर जिस संवेदनशून्यता को दर्शाया गया है, वह मानवीयता की पराकाष्ठा है। 'कफ़न' प्रेमचंद की अंतिम कहानी मानी जाती है जो वर्ष 1936 ईस्वी में 'चांद पत्रिका' के अप्रैल अंक में छपी थी। इसमें सामाजिक व्यवस्था की अमानवीयता, रीति-रिवाजों,कर्मकांडों और पाखंड एवं श्रेष्ठता के खोखले आवरण,जमीदारों के शोषण, अन्याय, मजदूरों की बदहाल स्थिति का यथार्थ वर्णन, दलित अस्मिता या चेतना, नारी अस्मिता के प्रश्नों को पुरजोर तरीके से व्यक्त किया गया है। प्रेमचंद की अन्य कहानियों की अपेक्षा यह बहुआयामी है जिसमें वर्णित जाति विशेष सूचक शब्द, क्रूरता, आलू खाना, चंदा के पैसों का क्रिया-कर्म में न लगाकर दारु पीना आदि विषय इस कहानी को विवाद के कटघरे में खड़ा करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि प्रेमचंद ने कहानी का शीर्षक 'कफ़न' ही क्यों

रखा और कुछ क्यों नहीं? 'कफ़न' अर्थात मृत्योपरान्त शव पर डाला जाने वाला नया श्वेत वस्त्र| प्रेमचंद लिखते हैं कि "कैसा बुरा रिवाज है, जिसे जीते जी तन ढकने को कपड़ा न मिले उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।"[8] शीर्षक से स्पष्ट होता है कि यह कहानी सामाजिक विधि विधान एवं परंपरावादी मूल्यों से संबंधित है किंतु यहां प्रेमचंद उपरोक्त दोनों विषय से ऊपर उठकर व्यक्ति नहीं मनुष्य की संवेदनाओं, भावनाओं और आचारों-विचारों एवं सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्विरोध को दर्शाते हैं| प्रेमचंद लिखते हैं कि "**यही पांच रुपये अगर पहले मिलते तो कुछ दवा दारू करा लेते**।"[9] यहां यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि घीसू और माधव की संवेदनाएं अभी जिंदा है। वह एक ओर आर्थिक व्यवस्था के गुलाम है तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था में दलित अर्थात चमार है।

हिंदी साहित्य में संभवत: कफ़न वह कहानी है जिसे सर्वाधिक व्याख्याओं का गौरव प्राप्त है; लेकिन कफ़न की जिस तरह परस्पर विरोधी व्याख्याएँ हुई हैं, उससे कफ़न के साहित्य ही नहीं मानवीय साहित्य होने पर भी संदेह उत्पन्न होता है। जहाँ कुछ आलोचकों ने इसे हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक माना है तो वहीं कुछ आलोचकों ने इसे एक साजिश के तहत रची गई घटिया कहानी माना हैं। जहां से कुछ के लिए यह दलित जीवन का दारूण चित्रण है तो वहीं कुछ अन्य आलोचकों के लिए यह यथार्थवादी कहानी है। कुछ के लिए यह बाबत इरादों से गढ़ी गई एक विशुद्ध काल्पनिक कथा है । विवाद केवल प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' पर ही नहीं प्रेमचंद की संवेदना और उनकी दृष्टि को लेकर है लेकिन फिर भी 'कफ़न' को प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानी माना जाता है।

कहानी की काल्पनिकता एवं यथार्थवादिता या श्रेष्ठतम एवं निकटतम का मूल्यांकन करते हुए कुछ आलोचक प्रेमचंद के व्यक्तिगत जीवन में भी प्रवेश कर जाते हैं। डॉ.बच्चन सिंह 'कफ़न' के संदर्भ में लिखते हैं कि "**यह उनके (प्रेमचंद) पुस्तक के जीवन का ही कफ़न सिद्ध नहीं हुई बल्कि उनके संचित आदर्शों,मूल्यों, आस्था और रीति-रिवाजों का भी कफ़न सिद्ध हुई।"[10]** साहित्य का निर्माण समाज से और समाज का निर्माण साहित्य से होता है, जिस देश का समाज जैसा होगा वैसा ही वहां का साहित्य होगा। जैसे कि लिओ टॉलस्टॉय की कृति 'वार एंड पीस' और प्रेमचंद का 'गोदान'। प्रायः समय के साथ-साथ साहित्य सृजन की प्रक्रिया एवं कथ्य दोनों में बदलाव होता रहता है जो कि प्रेमचंद ने की वर्ष 1907 में लिखित 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' एवं 1936 में लिखित 'कफ़न' कहानी के विवेच्य विषय के आधार पर देखा जा सकता है। कहने का आशय यह है कि इस संदर्भ में बच्चन सिंह का कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

इसके विपरीत में कफ़न के संदर्भ में डॉ.परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है कि **"कफ़न हिंदी की सर्वप्रथम नयी कहानी है, वह पूर्णत: आधुनिक है क्योंकि उसमें न तो प्रेमचंद का जाना पहचाना आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है और न कथानक सम्बन्धी पूर्ववर्ती धारणा है, ना गढ़े-गढाए इंस्ट्रुमेंटल जैसे पात्र हैं, न कोई परिणति ,न कोई चरम सीमा और न छिछली भावुकता, और अतिरंजना और न कोई सीधा सम्प्रेष्य वस्तु। वह लेखक के बदले हुए दृष्टिकोण और कहानी की बदली हुई संरचना का ठोस उदाहरण है**। " [11] इस कथन के आधार पर साबित होता है कि यह प्रेमचंद के पूर्ववर्ती साहित्य के दृष्टिकोण से अलग एवं यथार्थवादी कहानी है जो वर्तमान मूल्यों

पर भी चोट करती है ; उदाहरण के तौर पर कई बार ऐसी घटनाएं सामने आती हैं जिसमें एक व्यक्ति के एक्सीडेंट या लड़ाई होने पर दूसरा व्यक्ति अस्पताल न पहुंचाकर वीडियो बनाने में लगा रहता है। कहने के पीछे मंशा यह है कि यह कहानी आदर्शवादी, काल्पनिक नहीं है। 'कफ़न' कहानी के संदर्भ में यह विवाद का विषय है कि इसे दलित कहानी माना जाए या फिर दलित विरोधी। डॉ धर्मवीर इसे 'दलित कहानी' मानते हैं तो वही दलित आलोचक श्यौराज सिंह बेचैन, कंवल भारती आदि इसे दलित विरोधी मानते हैं। डॉ धर्मवीर ने 'सामंतवाद का मुंशी'नामक आलोचना कृति में नई चौंकाने वाली व्याख्याएँ की हैं । इन्होंने प्रेमचंद पर दो आरोप लगाए हैं, पहला तो यह कि प्रेमचंद कायस्थ यानी कि सवर्ण हिंदू थे तो उन्हें अवर्णों पर कहानी लिखनी चाहिए थी। प्रेमचंद ने यह क्यों लिखा कि 'चमारों को कुनबा था सारे गांव में बदनाम। दूसरा यह है कि प्रेमचंद अपनी कहानी आठ बटे नौ भाग अपने पेट में छुपा गए और सच्चाई यह है कि 'बुधिया गांव के जमीदार के लौंडे से गर्भवती थी,उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। घीसू और माधव इतना ही विद्रोह कर सके कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे और इसी विद्रोह के कारण माधव कहता है कि 'चाहे बुधिया मरे बुधिया के पेट का बच्चा' धर्मवीर प्रेमचंद के बारे में लिखते हैं कि 'प्रेमचंद चूंकि सामंत और जमींदार के मुंशी थे इसलिए उन्होंने इस विद्रोह को छुपाते हुए चमारों को बदनाम किया।

डॉ. धर्मवीर का पहला आरोप है कि प्रेमचंद ने अवर्णों पर कहानी क्यों लिखी? अब यह प्रश्न उठता है कि साहित्य को 'जाति विशेष','समुदाय विशेष', 'वर्ग विशेष' में बांटकर कैसे समाज का निर्माण या समाज की विसंगतियों का चित्रण किया जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जो लेखक प्रेमचंद को अवर्ण-सवर्ण में बांटकर देखते हैं। वे भूल जाते हैं कि दलित विमर्श का उत्स ही प्रेमचंद के साहित्य के में होता है। डॉ धर्मवीर की दूसरी आपत्ति यह है कि बुधिया से जमीदार के लौंडे ने रेप किया इसलिए घीसू और माधव का विद्रोह था कि "**चाहे बुधिया मरे या बुधिया के पेट का बच्चा।**"[12] अब प्रश्न यह उठता है कि बलात्कार की सजा बुधिया को ही क्यों मिले उस जमींदार के लौंडे को क्यों नहीं मिली? क्यों नहीं जमींदार के लड़कों को मार दिया गया? घीसू-माधव ने अपनी बहू या पत्नी की इरादतन मृत्यु होने देने को क्या हम विद्रोह क्यों कहे? अगर इतना ही विद्रोह करना है तो जमींदार को गांव में बदनाम करते। क्या अपने परिवार के उस सदस्य को जो परिवार का पेट भरे, के मरने को विद्रोह कहना उचित होगा? इन सब प्रश्नों के निश्चित समाधानों का पता लगाना जटिल काम है जिनमें प्रत्येक आलोचक इसकी अलग-अलग संभावनाएँ बताते है; जिनमें कोई कहता है कि यह प्रेमचंद की साजिश थी कि चमारों को अमानवीय रूप में प्रस्तुत किया जाए तो कोई इस मृत्यु क को घीसू-माधव का विद्रोह बताते हैं। प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने अपने लेख 'आपकी धनिया' में इसकी सहज एवं सरल व्याख्या करते हुए लिखतीं हैं कि "माधव कामुक था और उसकी कामुकता ने ही बुधिया की वह दशा की। अत: मैत्रेयी पुष्पा ने भी माधव को जिम्मेदार ठहरा दिया।

अब उन आलोचकों की बात करते हैं जो 'कफ़न' को दलित विरोधी कहानी के रूप में स्वीकार करते हैं। घीसू-माधव द्वारा बुधिया को मरने देना, चोरी करके गर्म-गर्म आलूओं का खाना, काम करने से डरना (निकम्मापन) , चंदे के पैसों का दारू कबाब में चट कर जाना ही इन्हें अमानवीय एवं स्वार्थी

बताता है। इस संदर्भ में वरिष्ठ दलित आलोचक कंवल भारती ने लिखा है कि **" यद्यपि इस कहानी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रेमचंद को दलितों के जीवन से सहानुभूति नहीं थी, परंतु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि प्रेमचंद ने इस कहानी में दलित जीवन का मखौल उड़ाया है; तथा इन्हीं कारणों से कफ़न एक घटिया कहानी ही नहीं है दलित विरोधी भी है।"**[13] ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि प्रेमचंद ने दलित जीवन का मखौल उड़ाया है क्योंकि प्रेमचंद कहानी में परंपरा पोषित रीति-रिवाजों पर भी लिखते हैं कि **'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढकने को कपड़ा ना मिले उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए'।** [14] कहानी में यह भी नहीं है कि घीसू और माधव की इंसानियत पूर्णत: मर चुकी हो; क्योंकि कहानी में वह एक जगह माधव संवेदना व्यक्त करते हुए कहता है कि 'मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पांव पटकना नहीं देखा जाता'।

इस कहानी का सबसे बड़ा मनोवैज्ञानिक सच है कि भूख एक ऐसी विकराल भट्ठी है जो अन्न के अभाव में मनुष्य की संवेदनाओं के साथ-साथ उसकी मनुष्यता को भी लील जाती है। भूख किसी समुदाय या जाति विशेष कि ना होकर संपूर्ण मानव जाति की होती है अतः दावे के साथ कहा जा सकता है कि घीसू-माधव की यह जगह इन्हीं की परिस्थितियों में अगर कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय भी होता तो वह भी ऐसा ही करता। इसलिए यह कहानी 'दलित विरोधी' नहीं है बल्कि इससे ऊपर उठकर 'भारतीय सामाजिक व्यवस्था' में माननीय भावनाओं एवं संवेदनाओं का चित्रण है।

'कफ़न' के कथावस्तु के आधार पर कुछ आलोचकों ने प्रेमचंद की साहित्य दृष्टि एवं संवेदना पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है। प्रसिद्ध दलित आलोचक श्यौराज सिंह बेचैन ने 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद का चमार चित्रण' नामक लेख में प्रेमचंद को नसीहत देते हुए लिखते हैं कि **"प्रेमचंद ने चमारों को इंसानियत से गिरा हुआ साबित करने के लिए इधर इरादतन एक काल्पनिक कथा गढ़ी है। यथार्थ में ऐसे पत्रों का मिलना संभव नहीं प्रेमचंद ने चमारों को नीचा दिखाने के उद्देश्य से ऐसे पत्रों की कल्पना करनी थी, जिसके बहाने पूरे दलित वर्ग को गरियाया जा सके।** [15] इस कथन के लिहाज से यह साबित होता है कि कफ़न दलित विरोधी काल्पनिक घटिया एवं आदर्शवादी कहानी है किंतु प्रश्न फिर आकर खड़ा होता है कि क्या दलित पात्र को नकारात्मक रूप में चित्रित करके पूरे समुदाय विरोधी हो जाना है? अगर यही स्वीकार है तो 'मोटेराम जी शास्त्री' एवं कुछ अन्य कहानियों के कारण प्रेमचंद को 'ब्राह्मण विरोधी' भी कहा जा सकता है।

कथा का अच्छा या बुरा पात्र किसी ना किसी जाति,धर्म ,लिंग, राष्ट्र का सदस्य होता है लेकिन जिस तरह से समाज में किसी एक गलती को आधार बनाकर उसके पूरे समुदाय, जाति, लिंग, राष्ट्र को कलंकित करना मूर्खता एवं धूर्तता दोनों हैं ठीक वैसे ही साहित्य में भी किसी पात्र की निजी गलतियों या अच्छाइयों के आधार पर उनके पूरे समुदाय को कलंकित या सम्मानित करना गलत है। जिस तरह से ' सेनेटिक वर्सेस' को इस्लाम धर्म की निंदा मानकर सलमान रुश्दी के लिए मौत का फतवा सुनाना और 'लियोनार्डो द विंची' को ईसाई विरोधी मानना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। ठीक उसी तरह कफ़न को दलित विरोधी मानना भी शुद्ध रूप से अस्मिता वादी दृष्टिकोण है जो पात्रों को व्यक्त नहीं सिर्फ अस्मिता के प्रतीकों को बदल देता है। घीसू और माधव निश्चित रूप से चमार है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि

उनकी खूबियाँ- खराबियां दलितों की खूबी-खराबियां है। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'कफ़न' दलित विरोधी कहानी नहीं है।

' कफ़न' कहानी भारतीय समाज के संस्थागत स्वरूप और उसमें मजबूत स्वरबद्ध संस्थागत उत्पीड़न को रेखांकित करती है। प्रेमचंद ऐसे समय के लेखक हैं जिसमें एक ओर जमीदारी प्रथा, सामंतवाद और औपनिवेशिक शासन की क्रूरता अपने चरम स्तर पर थी तो वहीं दूसरी ओर भारतीय हिंदू समाज में विविध धर्म एवं विविध रूढ़िवादी परंपराएं, छुआछूत, भेदभाव जाति एवं आर्थिक-सामाजिक शोषण जैसी व्यवस्थाएं विद्यमान थी। इस समय दलितों एवं स्त्रियों की स्थिति दारुण थी; जमीदारों एवं सवर्ण हिंदुओं का प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक स्थान, प्रत्येक व्यक्ति पर अधिकार था। ओमप्रकाश बाल्मीकि की कविता 'ठाकुर का कुआं' इस स्थिति को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करती है-

' कुआं ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत-खलिहान ठाकुर के
गली मोहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या ?
गांव ?
शहर ?
देश ?'[16]

सन्दर्भ सूची :

(1). प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य https://hindisarang.com/sahitya-ka-uddeshya-by-premchand/ 11:14 AM, 20/10/2022

(2). सिंह, नामवर, हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार, https://www.hindisamay.com/content/3388/1 2:15 PM, 21/10/2022

(3). प्रेमचंद, ठाकुर का कुआँ (2014) मानसरोवर भाग 1, सरस्वती प्रेस, बनारस (पृ.सं. 242)

(4). वही (पृ.सं. 243)

(5). सम्पादक डॉ. जगदीश शरण (2011), रैदास ग्रंथावली, साहित्य संस्थान प्रकाशन, (पृष्ठ 94)

(6). गोंडवी,आदम, मैं चमारों की गली तक ले चलूँगा आपको, http://kavitakosh.org/kk/%E0% 7:28 PM, 20/10/2022

(7). सिंह, नामवर (2009), इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (पृ.सं. 43)

(8). (सम्पादक) कुमार, जैनेंद्र (1977), हिन्दी कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, (पृ. सं.13)

(9). वही (पृ.सं.15)

(10). सिंह, बच्चन (2022), हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पृ.सं. 386)

(11). पुष्पा, मैत्रेयी (2006), आपकी धनिया, हंस, सम्पादक- राजेन्द्र यादव (पृ. सं.51)

(12). श्रीवास्तव, परमानन्द, https://wp.nyu.edu/virtualhindi/premchand-kafan-about/ 12: 33 PM, 18/10/2022

(13). डॉ धर्मवीर(2007), प्रेमचंद: सामंत का मुंशी, वाणी प्रकाशन , नई दिल्ली (पृ. सं. 17)

(14). वही, पूर्वोक्त (पृ.सं.13)

(15). भारती, कवंल (2000),दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद.(सम्पा.-सदानंद शाही), साहित्य संस्थान, गोरखपुर (पृ.स. 89)

(16). बाल्मीकि, ओमप्रकाश https://www.hindwi.org/kavita/thaakur-ka-kuaan-omprakash-valmiki-kavita 4: 17 PM, 14/10/2022

सम्प्रति :-
प्रांजलि देवी
शोधार्थी
भारतीय भाषा अध्ययन केंद्र
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली, 110067
मो. 7985143704
9519315235
मेल- pranjalisivhare@gmail.com

(शोध आलेख)

हिन्दी वेबसीरीज़ का सामाजिक प्रभाव: भाषा, विषयवस्तु और प्रस्तुति

प्रो. विकास शर्मा

शुभम सिंह

सारांश

हिन्दी वेब सीरीज़ की भाषा, उसकी विषयवस्तु और प्रस्तुति समाज पर गहरा प्रभाव डालती है। इन वेबसीरीज़ की भाषा केवल संवादों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यह समाज के बदलते परिवेश, विचारधारा और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी दर्शाती है। यह शोध आलेख हिन्दी वेबसीरीज़ की भाषा की विशेषताओं, उसकी शैली, तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करता है।

हिन्दी वेब सीरीज़ में आमतौर पर बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाता है, जो क्षेत्रीय बोलियों, हिंग्लिश तथा आधुनिक युवा संस्कृति से प्रभावित होती है। इसमें संवाद अधिक स्वाभाविक और यथार्थवादी होते हैं, जिससे दर्शकों को उनसे जुड़ाव महसूस होता है। इस शैली ने पारंपरिक हिन्दी सिनेमा और टेलीविजन के सुसंस्कृत संवादों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और प्रभावशाली भाषा को अपनाया है।

सामाजिक प्रभाव के दृष्टिकोण से हिन्दी वेबसीरीज़ ने समाज की कई जटिल परतों को उजागर किया है। ये न केवल समसामयिक मुद्दों—जैसे लैंगिक समानता, जातिगत भेदभाव, मानसिक स्वास्थ्य, और LGBTQ+ समुदाय के अधिकार—पर खुली चर्चा को प्रोत्साहित करती हैं, बल्कि सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देकर नए दृष्टिकोण को जन्म देती हैं। इसके साथ ही, कुछ वेबसीरीज़ में हिंसा, अश्लीलता और अपशब्दों का बढ़ता प्रयोग नैतिकता और संस्कारों पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा करता है, जिससे समाज में बहस और विचार-विमर्श की स्थिति उत्पन्न होती है।

अतः हिन्दी वेबसीरीज़ की भाषा और उसकी विषयवस्तु केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज की सोच, युवा पीढ़ी की मानसिकता और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित करने की शक्ति रखती है। एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए वेबसीरीज़ का प्रयोग सकारात्मक बदलाव लाने और समाज को नई दिशा देने में किया जा सकता है।

संकेत शब्द (Keyword): हिन्दी वेबसीरीज़, भाषा, प्रस्तुति, अभद्र भाषा, अश्लीलता, अपशब्द, सामाजिक प्रभाव, हिंग्लिश, सेंसरशिप, ओटीटी प्लेटफॉर्म

प्रस्तावना

सिनेमा और साहित्य का सम्बन्ध लगभग हर दौर में कायम रहा है। भले ही इस रिश्ते में ऊँच-नीच का दौर चलता रहा हो। सिनेमा और साहित्य दोनों समाज को प्रभावित करते रहे हैं। विविध खामियों और विरोधाभाषों के बावजूद साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक हैं। 'दादा साहब फालके' की 'राजा हरिश्चन्द्र'(1913 ई.) से वर्तमान तक भारतीय सिनेमा ने अपनी व्यापकता और दायरे को बढ़ाया है, मूक सिनेमा से शुरू हुए इस सफर को आज डिजिटल युग में प्रवेश किए एक दशक से ऊपर का समय हो गया है जो अपने में निरन्तर बदलाव ला रहा है।

सिनेमा के प्रस्तुतीकरण के माध्यमों का विकास हुआ है। सिनेमा का प्रसारण सिनेमाघरों और टी.वी. चैनलों तक ही सीमित नहीं रहा है। बल्कि ओ. टी. टी. (ओवर द टॉप) प्लेटफार्म का भी बड़ी मात्रा में प्रयोग हो रहा है। भारत में अँग्रेजी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लिए 35 से अधिक (नेटफ्लिक्स, अमेजॉन प्राइम, डिस्टनी + हॉटस्टार , जिओसिनेमा, अल्ट बालाजी, जियो सिनेमा और एमएक्स प्लेयर आदि)ओटीटी प्लेटफार्म कार्य कर रहे हैं। जबकि 2012 में ये संख्या मात्र 2 थी। ये संख्या निरंतर बढ़ ही रही है। पिछले कुछ समय से अकादमिक चर्चाओं में इसका ज़िक्र और इस पर और ध्यान केन्द्रित किए जाने की आवश्यकता पर भी बल दिया जाने लगा है।

सिनेमा के स्वरूप में भी बदलाव आया है। हिन्दी फ़िल्मों ने घटित आपराधिक घटनाओं को उठाया है ; लेकिन वेबसीरीज़ जैसा यथार्थपूर्ण चित्रण शायद नहीं हुआ है। वेबसीरीज़ ने समाज में घटित आपराधिक घटनाओं को बिना किसी लागलपेट के सीधे स्क्रीन पर दिखाने का साहस किया है। यही कारण है कि आजकल फ़िल्मों की बजाय वेबसीरीज़ देखने में लोग अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है जिस सिनेमा में यथार्थ के तत्व और पारदर्शिता अधिक होगी वही ज्यादा प्रभावशाली और रोचक भी होगा।

अब प्रश्न उठता है वेबसीरीज़ क्या है ? भारत में इसकी शुरुवात कब हुई ? संक्षेप में कहूँ तो आज के ज़माने में किसी भी धारावाहिक कंटेंट का निर्माण होने के बाद वेब यानी इंटरनेट पर सबसे पहले प्रसारित होने वाला कंटेंट वेबसीरीज़ कहलाता है। वेबसीरीज़ को 'वेब शो' के नाम से भी जाना जाता है। इनको लगभग 1990 से उभरा माना जाता है और 2000 के आस-पास मार्केट में उतरने लगी थीं। लेकिन उस समय इतना बोलबाला नहीं था जितना कि आज। वेबसीरीज़ के एक एपिसोड को 'वेबीसोड' कहा जाता है। इसे कंप्यूटर, मोबाइल, टैबलेट पर देखा जा सकता है। यदि बात करें भारत में पहली वेबसीरीज़ की , तो टी.वी.एफ. (द वायरल फीवर) की 'परमानेंट रूममेट्स' को 2014 में रिलीज पहला वेब शो माना जाता है। लेकिन ओटीटी में आधिकारिक तौर पर रिलीज हुई, 2017 की अमेजन प्राइम की 'इनसाइड एज' है जो भारत की पहली ओ.टी.टी. सीरीज़ थी।

भारत में इंटरनेट प्रयोक्ताओं की बढ़ती संख्या, बढ़ती डिजिटल साक्षारता, सस्ते होते डाटा प्लान और स्मार्टफोन की बढ़ती उपलब्धता डिजिटल मीडिया की निरंतर वृद्धि का ही प्रमाण है। ये वृद्धि मात्र डिजिटल चैनल और वेबसाइट में ही नहीं बल्कि उपभोक्ताओं के इस्तेमाल करने के समय में भी है। 'नेशनल असोशिएशन ऑफ सॉफ्टवेयर एंड सर्विस कंपनी' की नवम्बर 2020 की एक रिपोर्ट ने ये माना है कि "कोरोना के कारण हुए लॉकडाउन में ओटीटी पर ग्राहक द्वारा बिताया गया औसत समय 20 मिनट से बढ़कर एक घंटा हो गया है। भारत में 49 प्रतिशत युवा ऑनलाइन दृश्य-श्रव्य सामाग्री देखने के लिए 2 से 3 घंटे व्यतीत करने लगा है। दृश्य-श्रव्य कंटेंट में बढ़ती सामग्री की मांग को ध्यान में रखते हुए और उसे पूरा करने के लिए ओटीटी निवेशक 3000 करोड़ रुपये का इनवेस्टमेंट करने जा रहे हैं"।[1]

भारत में आज हिन्दी वेब सीरीज का बहुत बड़ा बाजार है। निर्माताओं एक- एक वेब सीरीज में अपने बजट अनुसार एक हजार से लेकर 40 करोड़ तक निवेश कर रहे हैं। इसमें स्वतंत्रता और सहजता बहुत अधिक है चाहे वह निर्माताओं के लिए हो या दर्शक के लिए। निर्माताओं के ऊपर फिल्मों की तरह सेंसरशिप का दबाव नहीं है। वह विभिन्न सर्वे और मांग के अनुसार कथ्य तैयार कर रहे हैं; उन्हें अपने लक्ष्य का अंदाजा है। जो वेबसीरीज़ वह तैयार कर रहे हैं, लाइक डिसलाइक, कमेंट बॉक्स, रिव्यू , वॉच टाइम , दर्शक-उम्र , ग्रुप आदि के माध्यम से बहुत-सी इंफॉर्मेशन मिल रही है। जिसके बाद उन्हें यह जानकारी मिल रही है कि लोग क्या पसंद कर रहे हैं और उन तक किस तरह पहुँचाना है तो दूसरी तरफ इतनी ही सहजता दर्शक के पास है। उसे क्या देखना है और कैसे? पैसे खर्च करके टिकट लेकर और अलग से समय निकालकर फ़िल्मों की तरह देखने जाने की आवश्यकता नहीं है। वह कभी भी किसी भी समय कहीं से भी अपनी सुविधानुसार देख सकते हैं। एक 28 वर्षीय कर्मचारी ने बातचीत में बताया कि "वह सुबह - शाम एक से डेढ़ घंटे का ट्रैवल करते हैं जिसमें यात्रा के दौरान वेबसीरीज़ देखते हैं"।[2] इसमें एक विशेष तरह की ज़रूरत नहीं है कि जब समय मिले आप सब देख सकते हैं। "ओ.टी.टी. ने न सिर्फ फिल्मों या वेब सीरीज का लोकतंत्रीकरण किया है, बल्कि उसने दर्शकों को भी पहले से ज्यादा मुखर बना दिया है। अब वे अपनी पसंद और नापसंद खुलकर व्यक्त करने लगे हैं। उनके पास इंटरनेट मीडिया जैसे प्लेटफॉर्म भी हैं, जो उनको ज्यादा लोकतांत्रिक तरीके से मुखरित होने का मंच और अवसर दोनों देते हैं। सिनेमा का ये बदलता स्वरूप दर्शकों को भा भी रहा है।'' [3]

पत्रकार अनंत विजय अपनी पुस्तक ओवर द टॉप (ओटीटी का मायाजाल) में यह भी कहते है कि "आज जब पूरी दुनिया अपनी जड़ों की ओर लौट रही है, अपनी परंपराओं को फिर से अपनाने के लिए आतुर दिखाई दे रही है, ऐसे में भारत की कहानी कहने की या किस्सागोई की शानदार परंपरा को ओ.टी.टी. प्लेटफॉर्म्स नए तरीके से तकनीक के आधार पर और व्यापक बना रही है" ।[4]

उद्देश्य

1. सामाजिक मुद्दों, अपराध, हिंसा और बोल्ड कंटेंट की प्रस्तुति का दर्शकों की मानसिकता, नैतिकता और सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रभाव का अध्ययन।
2. हिन्दी वेब सीरीज़ में हिंग्लिश, क्षेत्रीय बोलियों और गाली-गलौज के बढ़ते प्रयोग का समाज, विशेषकर युवा पीढ़ी की भाषा शैली पर प्रभाव का अध्ययन।
3. ओटीटी प्लेटफॉर्म्स के बढ़ते प्रभाव से वेब सीरीज़ की व्यापक पहुँच, सेंसरशिप की कमी, और समाज में नैतिक व व्यवहारिक बदलाव।
4. अधिक वास्तविकता-प्रधान और प्रभावशाली भाषा को अपनाया है, जिससे युवा पीढ़ी की सोच और भाषा शैली प्रभावित हुई है।

शोध पद्धति (Research Methodology)

इस शोध में गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों विधियों का उपयोग किया गया है। डेटा संग्रहण के लिए ऑनलाइन सर्वेक्षण और साक्षात्कार का प्रयोग किया गया।

शोध विधि:

- **डेटा संग्रह:** प्राथमिक (सर्वेक्षण, साक्षात्कार) और द्वितीयक (लेख, रिपोर्ट, पुस्तकें)।
- **नमूना आकार:** 222 उत्तरदाता (0-46+ वर्ष आयु वर्ग)।
- **डेटा विश्लेषण:** सांख्यिकीय विश्लेषण और सामग्री विश्लेषण।

डेटा विश्लेषण और व्याख्या (Data Analysis & Interpretation)

लिंग (Gender)

222 responses

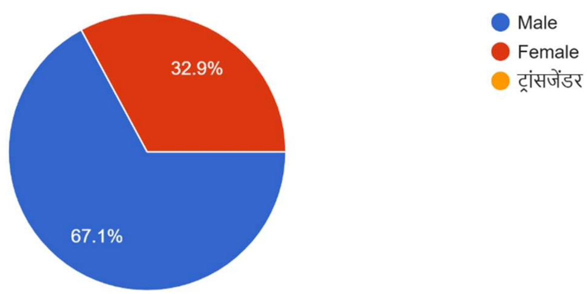

उम्र (age)

222 responses

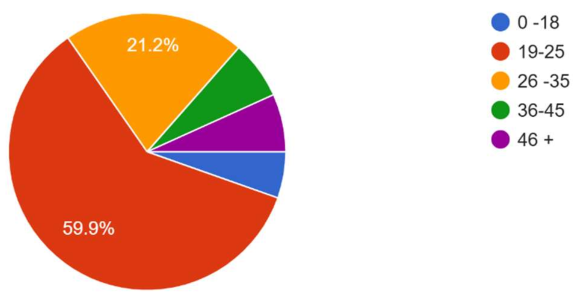

व्यवसाय (Occupation)

222 responses

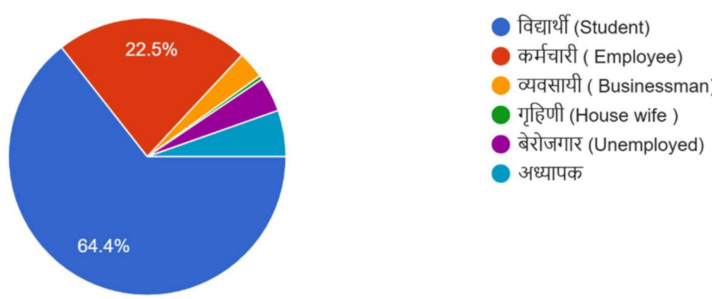

आप हिंदी वेबसीरीज कितनी बार देखते हैं?

222 responses

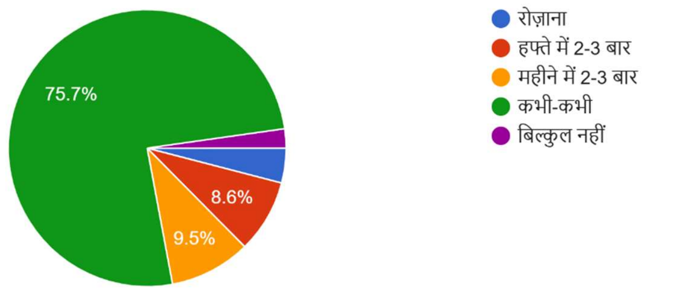

आप मुख्य रूप से कौन-से प्लेटफ़ॉर्म पर वेबसीरीज देखते हैं?

222 responses

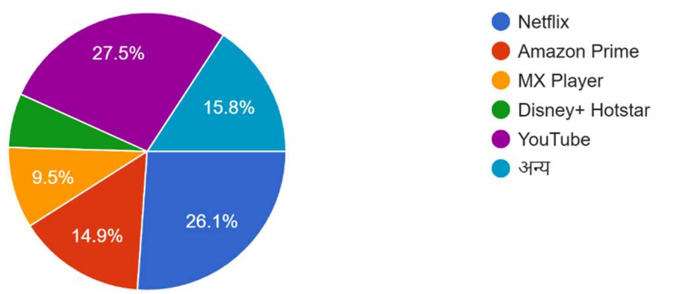

हिंदी वेबसीरीज देखने का आपका मुख्य उद्देश्य क्या होता है?

222 responses

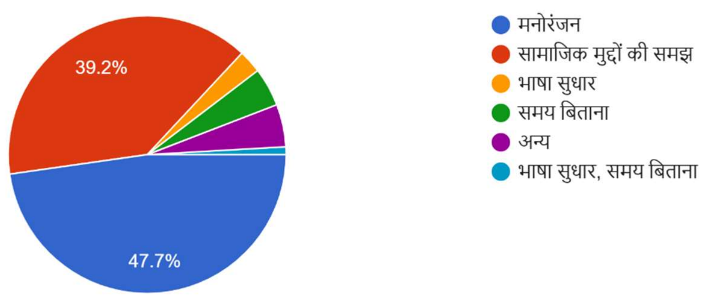

आपको हिंदी वेबसीरीज की भाषा कैसी लगती है?

222 responses

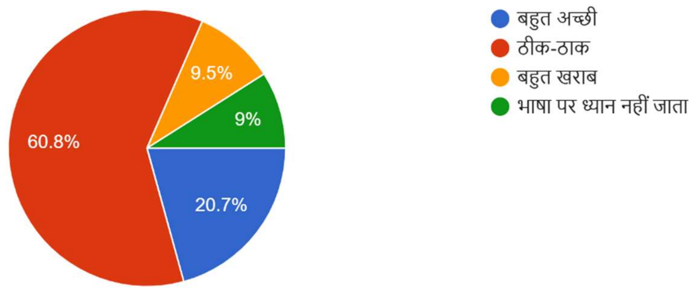

हिंदी वेबसीरीज में प्रयुक्त भाषा को आप किस श्रेणी में रखेंगे?

222 responses

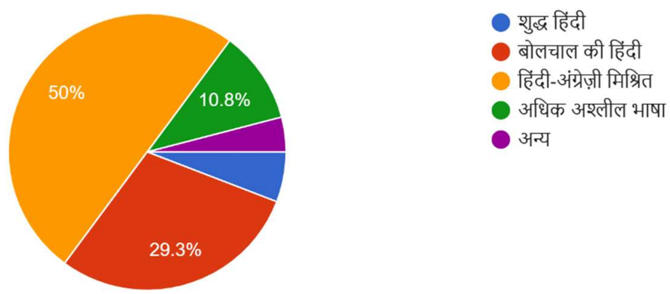

क्या आपको लगता है कि हिंदी वेबसीरीज की भाषा वास्तविक जीवन की बातचीत से मेल खाती है?

222 responses

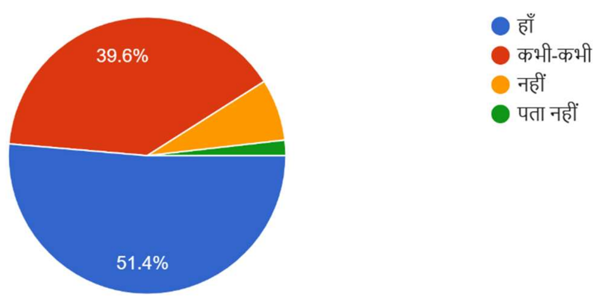

क्या आप वेबसीरीज देखने के बाद उसमें प्रयुक्त शब्दों या संवादों को अपनी बोलचाल में अपनाते हैं?
222 responses

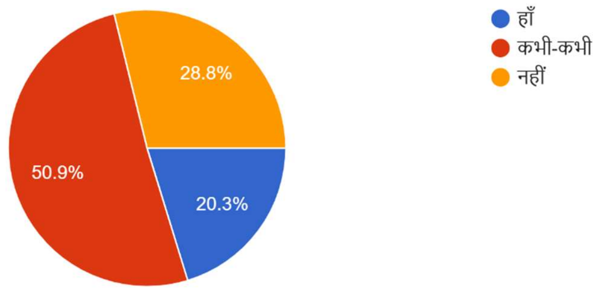

क्या आपको लगता है कि वेबसीरीज में इस्तेमाल की जाने वाली गालियाँ और अपशब्द समाज में असभ्य भाषा के बढ़ते उपयोग का कारण बन रहे हैं?
222 responses

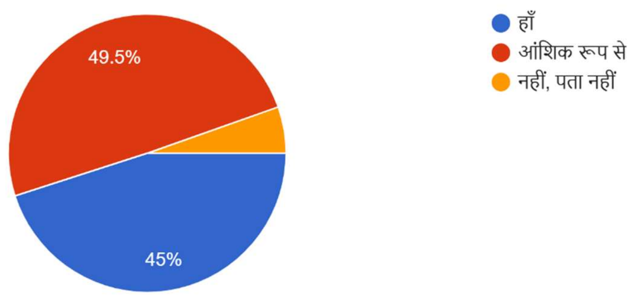

क्या आपको लगता है कि हिंदी वेबसीरीज की भाषा युवा पीढ़ी के बातचीत करने के तरीके को प्रभावित कर रही है?
222 responses

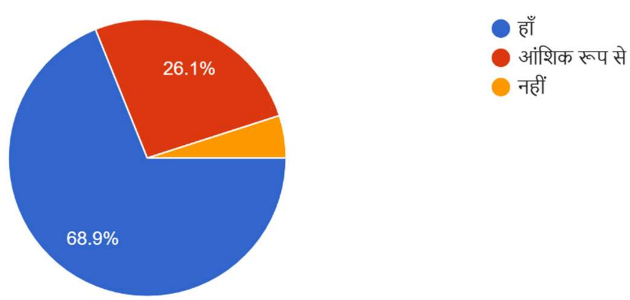

हिंदी वेबसीरीज में अंग्रेज़ी शब्दों के बढ़ते प्रयोग को आप कैसे देखते हैं?

222 responses

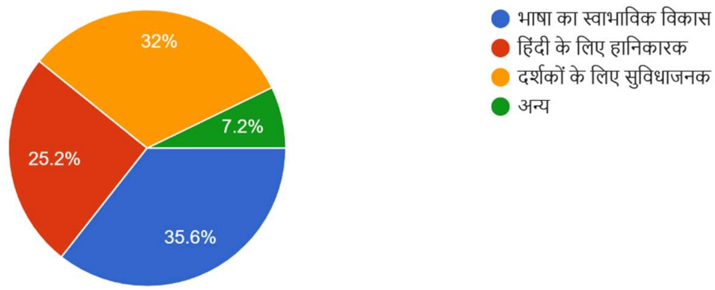

क्या आपको लगता है कि हिंदी वेबसीरीज में प्रयुक्त भाषा पारिवारिक वातावरण के अनुकूल होती है?

222 responses

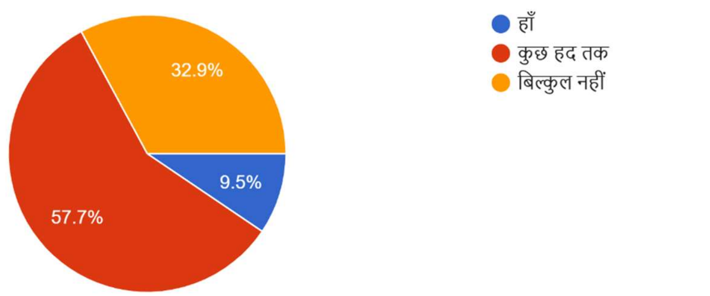

क्या वेबसीरीज की भाषा ने आपके दैनिक व्यवहार, सोच या संवाद शैली को प्रभावित किया है?

222 responses

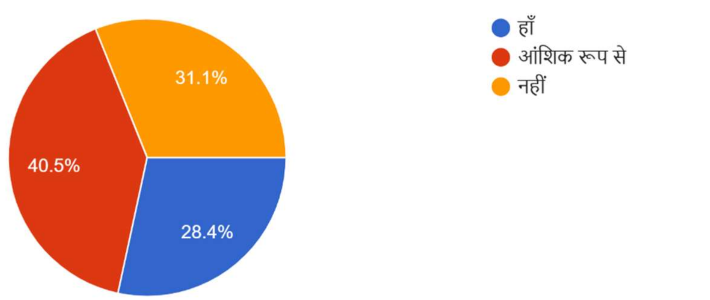

क्या आपको लगता है कि वेबसीरीज की भाषा का समाज में सकारात्मक प्रभाव पड़ता है?

222 responses

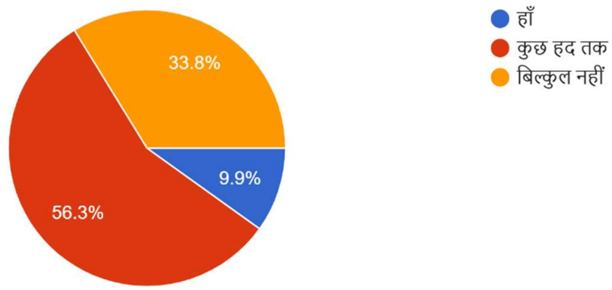

क्या आपको लगता है कि वेबसीरीज में भाषा पर किसी प्रकार का नियंत्रण होना चाहिए? यदि हाँ, तो किस प्रकार?

222 responses

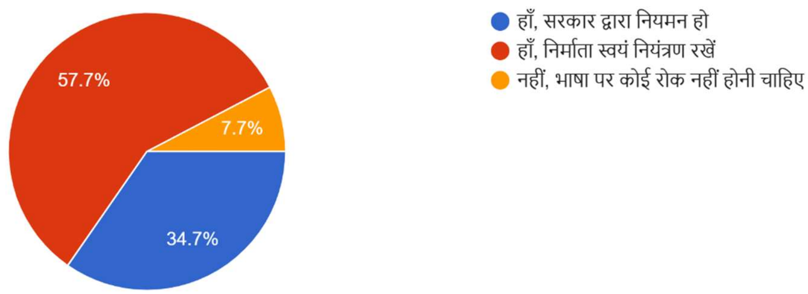

क्या आपने कभी वेबसीरीज में इस्तेमाल की गई भाषा को लेकर असहज महसूस किया है?

222 responses

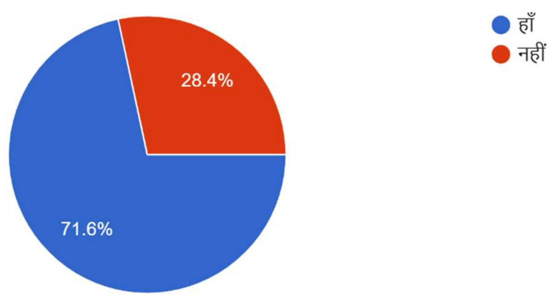

क्या आप सोचते है? कि गाली - गलौज , अश्लीलता, आपराधिक शब्दावली से परिपूर्ण भाषा अधिक दर्शकों का ध्यान आकर्षित करती है?

222 responses

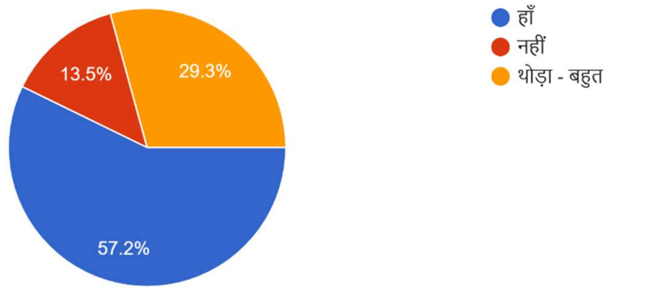

क्या अधिक गाली- गलौज , अश्लील , अभद्र , बर्बरता पूर्ण आपराधिक शब्दावली से युक्त भाषा वाली वेबसीरीज देखने के पश्चात अपने आपको पहले से अधिक एग्रेसिव (aggressive) और गुस्सायुक्त (angry 😡) महसूस करते हैं।

222 responses

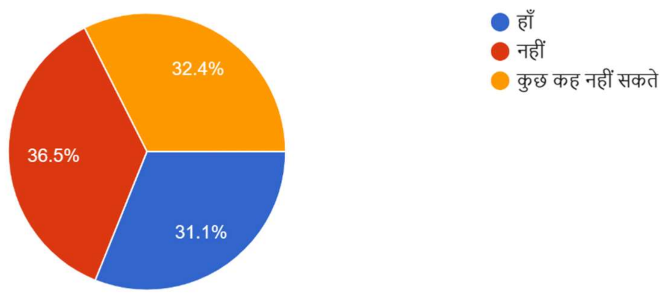

क्या वेबसीरीज की भाषा ने आपकी हिंदी समझने या बोलने की क्षमता में सुधार किया है?

222 responses

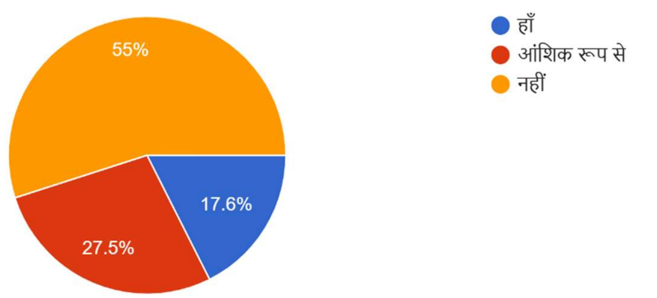

चर्चा (Discussion)

वेबसीरीज़ का प्रभाव केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज की भाषा, विचारधारा और नैतिकता को भी प्रभावित कर रही है। "आज का जो वैश्विक समाज बन रहा है, उसकी बुनियाद मूलतः आर्थिक और व्यावसायिक है। उसके व्यवहार में नीतियाँ प्रमुख हैं, नैतिकता नहीं।"[5]

उदाहरण के लिए आश्रम" वेब सीरीज एक क्राइम-ड्रामा शो है, जिसका निर्देशन प्रकाश झा ने किया है। यह एक फिक्शनल स्टोरी पर आधारित है, जिसमें एक ढोंगी बाबा निराला और उनके आश्रम की कहानी दिखाई गई है। इसमें अपराध, राजनीति और धर्म के नाम पर होने वाले शोषण को उजागर किया गया है। सीरीज में कुछ डायलॉग और दृश्यों को लेकर आपत्तियां भी उठी थीं, क्योंकि इसमें धर्म, गुरु परंपरा और महिलाओं के शोषण से जुड़े कई विवादित प्रसंग दिखाए गए हैं।

प्रमुख संवाद:

- "शरीर के लिए हर अंग ज़रूरी है, ऊपर वाला भी और नीचे वाला भी।"

-"जहाँ नोटों से होती है क़ानून की ऐसी-की-तैसी, उसको कहते हैं इंडिया की डेमोक्रेसी।"[6]

"मिर्ज़ापुर" एक क्राइम-थ्रिलर वेब सीरीज है, जो उत्तर प्रदेश के माफिया, सत्ता संघर्ष और बदले की कहानी पर आधारित है। मिर्ज़ापुर का डॉन कालीन भैया (पंकज त्रिपाठी) अपने साम्राज्य को मजबूत बनाए रखना चाहता है, लेकिन उसका हिंसक और बिगड़ैल बेटा मुन्ना (दिव्येंदु शर्मा) गद्दी हथियाने की चाह रखता है। दो आम लड़के, गुड्डू (अली फज़ल) और बबलू (विक्रांत मैसी), गलती से इस अपराध जगत में घुस जाते हैं और अपनी होशियारी से ताकतवर बन जाते हैं, जिससे मुन्ना उनसे जलने लगता है। सत्ता की इस लड़ाई में मुन्ना, बबलू और गुड्डू की पत्नी स्वीटी की हत्या कर देता है, जिससे गुड्डू बदले की आग में जल उठता है। दूसरे सीजन में, गुड्डू और गोलू (श्वेता त्रिपाठी) अपनी गैंग बनाकर कालीन भैया और मुन्ना के खिलाफ जंग छेड़ते हैं, जिसका अंजाम मुन्ना की मौत में होता है। अब मिर्ज़ापुर की गद्दी के लिए नया संग्राम तय है, जिसका जवाब तीसरे सीजन में मिलेगा। दमदार डायलॉग, बेहतरीन अभिनय और खून-खराबे से भरी यह सीरीज भारतीय वेब दुनिया की सबसे चर्चित कहानियों में से एक बन गई है।

प्रमुख संवाद:

- "माता जी यहाँ हैं, बहन यहाँ हैं, माँ-बहन एक करने में आसानी होगी।"[7]

- "ओ भो*डी वाले चाचा, रेस्ट करिए, वरना रेस्ट इन पीस हो जाओगे!"

- "जाति प्रथा काहे बनाई गई? इसीलिए ना कि पावर हमेशा हम ब्राह्मणों के हाथ में रहे।"

- " भो*डी के, अमर हैं हम, चुतिये नहीं..."

- "बवाल चीज़ है, सारा सिस्टम हिल जाता है!"

इस प्रकार, कई वेब सीरीज ऐसी हैं जो हिंसा, अपराध, अश्लीलता और अभद्र भाषा को दर्शाती हैं। हालांकि, इसका एक सकारात्मक पहलू यह भी है कि क्षेत्रीय भाषाओं और सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा मिला है। साथ ही, *पंचायत* और *गुल्लक* जैसी वेब सीरीज के अलावा *कोटा फैक्ट्री*, *अस्पिरेंट्स*, होम शांति और ये मेरी फैमिली जैसी सीरीज भी दर्शकों को सरल, मनोरंजक और पारिवारिक कंटेंट प्रदान कर रही हैं, जो बिना किसी गाली-गलौज या अनावश्यक हिंसा के भी बेहद प्रभावी हैं।

मुख्य निष्कर्ष (Findings):

अध्ययन में पाया गया कि वेबसिरीज़ देखने वालों में युवा (19 -25) और पुरुष दर्शकों की संख्या अधिक है। नेटफ्लिक्स , अमेजन प्राइम , एम एक्स प्लेयर, disney + hotstar यूट्यूब और अन्य प्लेटफार्म में से अधिक लोकप्रिय ओटीटी प्लेटफॉर्म क्रमशः यूट्यूब, नेटफ्लिक्स और अमेजन प्राइम हैं। अध्ययन कहता कि अधिकतर दर्शक क्रमशः वेबसीरीज़ मनोरंजन और सामाजिक मुद्दों की समझ के लिए देखते है।

अध्ययन यह भी कहता है कि वेबसीरीज़ की भाषा हिन्दी- अंग्रेजी मिश्रित (हिंग्लिश) है। अंग्रेजी के बढ़ते प्रयोग को भाषा का स्वाभाविक विकास एवं दर्शकों के लिए सुविधाजनक मानते हैं लेकिन इस बात से सहमत है कि यह हिन्दी के लिए हानिकारक भी है। बोलचाल की भाषा और अधिक अश्लील भाषा का प्रयोग भी किया जाता है। इस प्रकार की भाषा उन्हें बहुत अच्छी तो नहीं फिर भी ठीक-ठाक लगती है। लेकिन यह भाषा पारिवारिक वातातरवण के बहुत अधिक अनुकूल नहीं होती।

दर्शक यह भी मानते है वेबसीरीज़ की भाषा उनके वास्तविक जीवन से मेल खाती है। साथ ही उसमें प्रयुक्त शब्दों और संवादों कों अपने बोल - चाल में भी अपनाते है। इससे युवा पीढ़ी के बातचीत करने के तरीके में भी प्रभाव पड़ा है।

उत्तरदाता इस बात से भी सहमत है कि वेबसिरीज़ में इस्तेमाल की जाने वाली गालियाँ और अपशब्द समाज में असभ्य भाषा के बढ़ते उपयोग का कारण बन रहें है।

उत्तरदाता (Responsdent) यह भी कहते हैं कि भाषा पर किसी प्रकार की रोक लगानी ठीक नहीं है । निर्माता भाषा में स्वयं नियंत्रण रखें।

उपसंहार

हिन्दी वेबसीरीज़ की भाषा, विषय वस्तु और प्रस्तुति का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है। एक ओर, इन वेबसीरीज़ ने सामाजिक यथार्थ, समसामयिक मुद्दों और नए विचारों को प्रस्तुत कर दर्शकों को जागरूक बनाया है, तो दूसरी ओर, भाषा में बढ़ती अश्लीलता और हिंसा की अधिकता नैतिकता और पारिवारिक मूल्यों पर प्रश्नचिह्न भी लगाती है।

वेबसीरीज़ ने मनोरंजन की दुनिया में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है, जिससे नए कलाकारों और निर्देशकों को अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिला। साथ ही, डिजिटल प्लेटफॉर्म की पहुंच ने आम जनता तक विविध विषयों को पहुंचाने का मार्ग भी प्रशस्त किया। हालांकि, यह आवश्यक है कि वेबसीरीज़ ऐसी सामग्री प्रस्तुत करें समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने के साथ-साथ नैतिकता और संस्कृति का भी सम्मान करे।

अतः हिन्दी वेबसीरीज़ समाज पर प्रभाव डालने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन चुकी हैं, जिनका उपयोग सोच-समझकर किया जाना चाहिए ताकि वे केवल मनोरंजन तक सीमित न रहकर समाज के बौद्धिक और नैतिक उत्थान में भी सहायक बनें।

अनुशंसाएँ (Recommendations)

1. वेबसीरीज़ निर्माताओं को भाषा और कंटेंट के प्रति अधिक संवेदनशील होना चाहिए।
2. दर्शकों को डिजिटल साक्षरता के माध्यम से उचित कंटेंट चयन की जानकारी दी जानी चाहिए।
3. सरकार और ओटीटी प्लेटफॉर्म्स को एक स्पष्ट नीति बनानी चाहिए जो सेंसरशिप और स्वतंत्रता के बीच संतुलन बनाए।

संदर्भ सूची (References)

स्रोत ग्रंथ-

1. ‘नेशनल असोशिएशन ऑफ सॉफ्टवेयर एंड सर्विस कंपनी’ रिपोर्ट - 2020
2. मेट्रो यात्रा: 27/02/2025
3. विजय, अनंत, ओवर द टॉप, प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002 , पृष्ठ संख्या : 93
4. विजय, अनंत, ओवर द टॉप, प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002 , पृष्ठ संख्या : 169
5. कुँवर नारायण , लेखक का सिनेमा , राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या -164

6. आश्रम, एम. एक्स प्लेयर , सीजन - 1,2,3 और 4 क्रमश: 28 अगस्त2020, 11 नवम्बर , 2022 और 2023

https://www.mxplayer.in/?pageLanguage=hi

7. Mirzapur, Amazon Prime, Season-1, 2, and 3, 2018, 2020 and 2024

सहायक ग्रंथ

1. अनंत विजय, ओवर द टॉप, प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002
2. धीरज शर्मा, फिल्में और संस्कृति, प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002
3. Kritika Sharma, Emerging Gender Role and Hate Speech Representation in Indian web series OTT media (Research paper), Dep. Journalism and Mass Communication, Amity University Rajasthan Jaipur, India
4. कुँवर नारायण , लेखक का सिनेमा , राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या -164
5. राही मासूम रजा, सिनेमा और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृति संस्करण-2015
6. संपादिका डॉ. उषा कुमारी के.पी., भारतीय सिनेमा में भारतीय संस्कृति, अमन प्रकाशन, कानपुर (उ.प्र.), पहला संस्करण-2018
7. जवरीमल पारख, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, दूसरा संस्करण: 2019, प्रकाशकः अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा लि, 4697/3, 21 ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
8. संपादक पंकज शर्मा, हिंदी सिनेमा की यात्रा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2018
9. Ahuja, R. (2020). A Study of effects of web series & streaming content on indian youth, Internation journal of of creative Research thoughts, 1042-1055.

शुभम सिंह

शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. विकास शर्मा

शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

(शोध आलेख)

हिन्दी उपन्यासों में व्यक्त आदिवासी शोषण और स्त्री

संजय साव

उपनिवेशवाद के बाद स्वाधीनता मिलने पर बड़े बांधों और कारखानों को नेहरू जी ने मंदिर घोषित किया था,लेकिन उसकी कीमत किसने चुकाई। विकास सेआदिवासी समाज बड़ी मात्रा में विस्थापित हुआ। डूब उपन्यास में माते द्वारा सरकार से पूछा गया यह सवाल आज भी हमारे बीच चक्कर खा रहा है कि— "ताज्जुब की बात तो यह कि से सब तय हुआ कब? हमसे बिना पूछे हमारी तबाही का फैसला सरकार ने ले लिया। ऐसा तो डाकू भी नहीं करते। वे धन जरूर लूटते हैं। पर घर से बेघर नहीं करते। वे तो अमीरों को सताते हैं। हां, उन्हे सताते हैं जो दीनों को सताते हैं रात-दिन।

और यह सरकार! यह गरीबों को सतायेगी! उन्हें सताएगी जिन्हें भाग्य, भगवान, धनवान सभी पहले से सताने पर आमादा हैं? ऐसा तो सौ साल पहले गोरी सरकार ने भी नहीं की थी।

ठीक कहते थे बामन महाराज। इस कलजुग में आदमी ही नहीं उसके काम भी ओछे होंगे। दूसरे का घर छीनकर अपना घर बढ़ायेगा। दूसरे का का गोधन, जरधन हड़पकर अपना घर भरेंगे।

कैसा फरेब है ये? कितना बड़ा झूठ है ये? कैसी खुशहाली है ये? कैसा बांध है ये नरबलि लेगा ये? पशुबलि लेगा? धोख है ये? जो हमें लीलेगा वह औरों को भी लीलेगा।'

इसके बाद माते यक्ष प्रश्न पूछता है—हमें कहा बसायेगी सरकार? बिजली वाले गांव में कि आंधरे गांव में? का पतो?"[1]

साफ जाहिर है कि 1994 में अंग्रेजों के समय बना भूमि अधिग्रहण का कानून भी इतना दमघोटू नहीं था जितना कि आज बन गया।

उसका यह अनुत्तरित सवाल तब से लेकर आज नर्मदा बांध बनने उसकी ऊंचाई बढ़ाने जाने तक लाखों बेघर आदिवास पूछ रहे हैं। सवाल अनुत्तरित है इक्कीसवी सदी में भी उनके रहने, खाने, रोजगार का कोई मुकम्मल इंतजाम सरकार नहीं कर रही है।

जब भारत सरकार की यह दुर्दशा है तो देशी-विदेशी पूंजीपतियों का क्या इंतजाम होगा। अनुमान कर सकते हैं। वही होगी जो ग्लोबल गांव का देवता, गायब होता देशऔर मरंग गोड़ा नीलकंठ में व्यक्त हुआ है कि लोकल और ग्लोबल अर्थात 'Have's और Have's not' की दो बुनियादी निर्मित हो गई हैं—'हमारा बॉक्साइट यहां से डेढ़-दो सौ किलोमीटर दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्युमिनियम में ढलता है, वह जगह सिल्वर सिटी ऑव इंडिया कहलाती है। एक बार घूमने का मौका मिला था फूलों-पार्कों से

लदी हरी-भरी खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बजार क्लब और योगा केन्द्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदन न जाने क्या-क्या।'

'ग्लोबल गांव का देवता' उपन्यास में रुमझम नामक पात्र अपने समाज और सभ्य समाज की स्त्रियों की तुलना करता है – 'सुन्दर-सुन्दर कुत्तों को घुमाती सुन्दर-सुन्दर महिलाएं बर्फ के गोलों से गुलथुल उजले बच्चे। रंग बिरंगी गुड़ियां।...इधर पानी और जलावन जुटाने में हमारी औरतों की आधी जिंदगी गुजर जाती है।' यह है सभ्य और आदिवासी औरतों की स्थितियों का फर्क। यह फर्क किन सामाजिक आर्थिक और परिवेशगत स्थितियों की उपज है इसे स्पष्ट करते हुए रुमझुम आगे बताता है कि जहां आदिवासी रहते हैं वहां 'विकास' जनित खनन से पैदा हुए "बरसात की गिंजन की तो मत पूछिए। बंद खदान के सैकड़ों गड्ढे विशाल पोखरों में बदल जाते हैं। कीचड़ में लोटते सुअरों और हमारे बच्चों में फर्क करना मुश्किल हो जाता है। वहां के गेस्ट हाउस के मेस में छत्तीस तरह के व्यंजन। मुहावले वाले नहीं, सचमुच के। क्या खाये-क्या नहीं खाएं । एक ही दिन में पेट खराब हो गया। यहां मकई का घट्टा खा—खाकर जीभ पर घट्टा पड़ जाता है। रुमझुम की आवाज थरथराने लगी। आंख छलछलाने लगी।"[2] यह है आम आदिवासी समाज और उनकी स्त्रियों की हकीकत।

लेकिन हमारे पर्यटन और मीडिया में कैसी स्त्रियां दिखती है - ठेठ माँसल, भरी-भरी देह वाली । क्या यह हकीकत है? सच तो यह है कि 35 तक पहुंचते-पहुंचते आदिवासी स्त्रियां बूढी, कमजोर और बिमारियों से ग्रस्त हो जाती हैं । यह हत्या नहीं कहलाती | लेकिन क्या यह स्लो प्वइजन जनित हिंसा नहीं है!

नेहरू के समय में पूछा गया सवाल आज औद्योगीकृत पूंजीवादी विकास के मॉडल में और भी भयंकर रूप में गायब होता देश, मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ में आया है। अब आदिवासी समाज इतना टूट, बिखर और निरीह हो गया है कि वह जल, जंगल, जमीन से बेदखल कर दिया जा रहा है। वह अपने ही पूर्वजों के जमीन, जंगलों, नदियों में कुलीगीरी करने को मजबूर है। वह जमीन पर ही नहीं बल्कि अपनी बहन-बेटियों का शरीर सुरक्षा की हारी लड़ाई लड़ रहा है।

संजीव का जंगल जहां शुरू होता है में बिसराम की बहू को जब पुलिस एक रात थाने में रखती है| सुबह जब वह घर आ रही है तो उसका बड़ा ही करुण चित्र खीचा है संजीव ने | बिसराम माता भवानी को मनाता है कि उसकी इज्जत न गयी हो लेकिन जब वह देखता है कि "वह गन्ने के खेत की मेड़ पर चली आ रही थी,मानो निबटान से आ रही हो -टांगे फैलाए,लस्त पस्त सी लंगड़ाकर चलती हुई। इस तरह आने का मतलब..."[3] आप समझ गये होगेकि हिंसा कितनी बारीक और मारक है। अन्ततः इस परिवार के सब बाल-बच्चे,माँ-बाप, दादा,चाचा,बुआ सब बारी-बारी से मारे जाते हैं| एक संस्थानिक हत्या का शिकार है यह निर्दोष परिवार।

बहन-बेटियाँ जवान औरतों की क्या कहें बूढ़ी महिलाएँ तक इस पूंजीवादी देहवादी बाजार में सुरक्षित नहीं हैं। इस उपन्यास में विस्थापन से स्वयं आदिवासियों के बीच टूटते आत्मीय संबंधों और उनके बीच पैदा हुए ऐसे अराजकतावादी आदिवासियों-गैर आदिवासियों का जिक्र है जो विस्थापित होते-होते नई जगहों में 'क्रिमिनल टाइप के लुहेंड़ा-लफुआ छोकरों' में तब्दील हो गये हैं। बिरसाडीह में उन्हीं की मनमानी थी। वही नियम-कानून तय करते। वहीं इनाम देते, वहीं सजा मुकर्रर करते।'[4] ये युवक इतने पतित, दिशाहीन और खतरनाक बन गये हैं कि दिन में ये लुच्चई-दादागिरी करते और सांझ ढलते कुकुर में बदल जाते हैं। ''कातिक के कुकुर में। दारू-हड़िया तो पुरानी बात है, ब्राउन सुगर और न जाने कौन-कौन नया-नया नशा। दू सौ-ढाई सौ रुपया में पुड़िया बस्ती के सब गुमटी पर। स्कूल, चाहे आंगनबाड़ी की कोठरी में रोजे ब्लू फिल्म। ये ही बीच में अंधेरिया में गलती से कोई सियानी-औरत जात नल पर पहुंच जाती। मत पूछ दादा। स्कूल के टूटल खिड़की से कोठरिया में खींच लेते। इहो नयं देखते कि हमरे एंगा-माय-बहिन तो नयं है। नयं तो दु-चार फिलिम देखला के बाद दू बजे-तीन बजे रात में कुकुर जैसन झोपड़ी में चमड़ा सूंघते घूमते रहते। कौन कोठरी में मरद नहीं है! कहां प्लास्टिक का छावन उखड़ सकता है!

...भोरे-भोरे बांस की पुलिया से उस पार पुटुस के झुंड में बस्ती की सब सियानी-औरत लोग दिसा-मैदान जाती हैं। ... औरत लोग सबेरे-सांझ जाए तो जाए कहां? कोशिश रहता है कि अंधेरे में निपट लें। लेकिन बेसी अंधेरा में तो कुकुर सब के झुंड का डर। बूढ़ी मंगरा माय तीन बजे भोर के अंधेरिया के कारण ही तो फंस गई।''[5] ऐसे में बूढ़ी मंगरा की माय का ये जो 'गति' करते हैं और मंगरा की माय की जो हालत है वह भी गौरतलब है-''पूरा देहिये नोचल-काटल लग रहा था। पचास-पचपन साल की बूढ़ी-अधेड़, एंगा-माय के साथ ई अत्याचर कौन राकस लोग किया।''[6] पूरा आदिवासी समुदाय एक होने पर भी न तो एफ.आई.आर. करा पाता है, न ही कोई खबर बन पाती है और न ही बलात्कारियों को पकड़ा जाता है। पूरा पुलिस थाना, आदिवासी विधायक विक्टर तिग्गा और लफंगे एक साथ। जाहिर है इनके सिर पर बड़े व्यापारियों और मंत्रियों का हाथ है। अंततः असहाय मंगरा कि माय भीड़ में से भागी है और ''जर्किन का पेटोल अपने उपर ढारी और देखते-देखते मंदिर में। देवी माय के सामने का जलता दीया उठाकर देह पर। ... देखते-देखते मंगरा की माय की देह जलल मिट्टी का लोंदा हो गई।''[7] यहाँ साफ है कि विस्थापन केवल जल, जंगल, जमीन और घर से नहीं होता बल्कि स्त्रियां, बच्चों और बूढ़ों के संबंध में यह विस्थापन उनकी सुरक्षा, देखभाल और हिंसा से भी जुड़ा है। क्योंकि इनकी जिंदगी समूह में ही सुरक्षित होती है; पराये और 'सभ्यों' के बीच इनका तन-मन-धन ही नहीं बल्कि जीवन भी इतना असुरक्षित होता है कि की मंगरा की माय की तरह कब जिंदगी की डोर टूट जाए कुछ कहा नहीं जा सकता!

विकास, अंधाधुंध दोहन का प्रभाव इस समाज पर ऐसा पड़ता है कि मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआका इलाका इतना विषैला हो गया है कि औरतों को लोग अपशकुन मानने लगे हैं। वहां की

लड़कियों से कोई विवाह नहीं करना चाहता कारण कि वे यूरेनियम के विकिरण से इतना प्रभावित हो गई हैं कि स्वस्थ बच्चे पैदा कर पाने में असमर्थ हो चुकी हैं।'[8] इस विघटन और टूटन का सबसे ज्यादा खामियाजा बूढ़े, बच्चे और स्त्रियों को भोगना पड़ रहा है।

जीवित बचे रहने की जद्दोजहद वाली परिस्थितियां स्त्रियों के भी चोरी करने, रखैल बनने और वेश्यावृत्ति को अपना लेने को मजबूर करती हैं। यही नहीं इन स्त्रियों और इनके पुरुष पर कानून, प्रशासन, पुलिस, सूदखोर इत्यादि का शोषण इतना गहरा है कि ये अपने मरे बेटे, पति इत्यादि को भी पहचानने से इंकार कर देते हैं। अल्मा कबूतरी में स्त्रियों की पीड़ा का आलम तो यह है कि वे 'पुलिस द्वारा मार दिए गए अपने पतियों तक को पहचानने से इन्कार कर देती हैं।' और पुरुष पुलिस की मार से बचने के लिए अपनी ही बहन बेटियों की हत्या कर देते हैं| अल्मा कबूतरी में ही पुलिस के छापे के दौरान जमुनी खेत के कीचड़ में छुपे कबुतरा आदिवासियों के बीच अचानक प्रसव पीड़ा से तड़पने लगती है- "जमुनी का बड़ा पेट! गेहुंओं के खेत में छिप गई।

सालों बेचो दारू। पिलाओ मद रंडियों।

कहां माँ? कहां बेटा? कहां भाई? कहां पिता? औरतों को आदमी खीचने लगे।

....

गजब! जिस खेत में छिपने गये, उसमें पानी लगा था। कंधे तक फसल और धरती पर कीचड़! राणा साँप की तरह सरक रहा था। वह जानता था, उसे कीचड़ के साथ ऐसे मिल जाना चाहिए कि लोग कीचड़ ही समझें।

तभी एक औरत कराहने लगी। उसे कोई पीट नहीं रहा था भी तड़प रही थी।

....

और चिघाड़ रही है। हम भी पकड़े जायेंगे। आवाज यहीं से आ रही है।

मुँह में कीचड़ भर दे।

औरत पूरा जोर लगाकर चिघाड़ी।

जा राणा-मुंह भींच देना।

तू जा भीखम।

नहीं। मैं नहीं जाऊँगा। सिपाही पकड़ ले जायेंगे। एक बार नहीं, दो बार थाने जा चुका हूँ। बर्तन-भांडे धुलवा लें। मालिश कर लें। पर वे तो ऐस काम कराते हैं कि...चौपाये की तरह खड़ा करा देते हैं और फिर हमला...लौटकर आया था, तब कैसा हाल था, याद है?

औरत की चिघाड़ पर भीखम खड़ा हो गया। और बोला-साली को पत्थर मारूं? गुलेल चलाने वाले लड़कों का निशाना। औरत एकदम चुप हो गई।

....

फिर अचानक सब शान्त हो गया। न हिचकी न हुआँ-हुआँ। बच्चों का मन चंचल हो उठा। मिट्टी में सने दोनों आगे सरकने लगे। आगे और आगे।

भीखम, देख जमुनी

जमुनी काली मिट्टी के दलदल में चित पड़ी थी। आंखों के शीशे पत्थर की तरह ठहरे हुए। हाथ-पांवों में कीचड़ लिथड़ी हुई। नंगी जांघों पर खूनी धब्बे। धब्बों भरा मिट्टी का लोंदा।

यार, यह बच्चा है।

हां?

देख, पतली डंडी से छोटे-छोटे हाथ-पांव। मुंह और आँखें! सो रहा है?

बच्चे सारी दहशत भुला बैठे। अब पेट में किसी दूसरे डर के गोले उठने लगे।

जमुनी मर गई भीखम।”[10]

‘द क्रिमिनिल ट्राइब्स ऐक्ट’ ने गांव के सवर्ण हिन्दूओं, और पुलिसों की स्थिति मजबूत कर दी। “अपराधिक जनजाति कानून से ग्राम प्रमुख की ताकत और प्रभाव बढ़ा। इस कानून के अनुसार इन जनजातियों का सदस्य गांव छोड़कर नहीं जा सकता था। दूसरे गांव जाने पर उसे अपने गांव के मुखिया द्वारा दिया प्रमाण पत्र दिखाना होता था। ऐसा नहीं करने पर उसे अपराध के इल्ज़ाम में गिरफ्तार किया जा सकता था। इस प्रकार कमजोर और दलित जातियों के लोग मुखिया के कृपापात्र बनकर ही जी सकते थे। जमींदार ही मुखिया होता था। वह दलितों से बेगार लेने के लिए अक्सर इस कानून के ताकत उन्हें अपराधी जाति घोषित करवा देता था।”[11] अपराधी घोषित हो गई जातियों के शोषण और जिन्दगी की कोई सीमा नहीं थी। उन्हें बिना रुपये दिये अन्तकाल तक काम करवाया जा सकता है। किसी कुख्यात अपराधी के एवज में मरवाया जा सकता था। जैसे अल्माकबुतरी में अध्यापक रामसिंह को डाकू के एवज में मारा जाता है| अपने दुश्मन या विरोधी का कत्ल करवाया जा सकता था। चोरी मार पिटाई और काम तो खैर इनसे गांव के दबंग हिन्दू परिवार और पुलिस तो कराती ही थी। महिलाओं के सामने और

भी विकट स्थिति थी उन्हें उपरोक्त कामों के साथ अपनी देह भी सौंपनी पड़ती थी। उनसे पैदा हुई अवैध संतानों को पालने को भी वह पेट में रखने, गिरा देने या पैदा करने को अभिशप्त थी। पढ़ें पिछले पन्ने की औरतें जिसमें बेड़िया समाज की स्त्रियों को मामूली चोरी करने पर भी गांव का दबंग काटेवार बड़ी आसानी से दैविक शोषण का मजा डराकर डेरा जमा रहने तक लेता रहता है— "कोटधर ने नचनारी को उठाकर अपनी जांघों पर बिठा लिया और उसका घघरा उलट दिया फिर उसकी जांघों के बीच अपनी उंगली डालते हुए बोला, "धत दू तो अभी बच्ची है। मुझे तेरी अम्मा के संघ खेलने-खाने में मजा आएगा। तोरे में तो दम नहीं।"

....

मजा आ गया। जब तक यहां डेरा है, रोज आते रहियो। नहीं तो मामला बना के तेरे साथ-साथ तेरी उस छिपकली को भी...दूंगा।"[12] इन घुमन्तु स्त्रियों की स्थिति इतनी असुरक्षामय होती थी कि ये अपने जीवन निर्वाह के लिए स्वयं को किसी अमीर, जमींदार, सामंत इत्यादि की रखैल, रखवा लेने में अपना भला समझती थी। इन बड़े जमींदारों, सामंतों की रखैल बनने की कीमत थी उन्हें हर तरह से खुश रखना। पूर्ण समर्पित होकर उनकी तन मन से सेवा और उनका मनोरंजन करना। इसमें किसी प्रकार की की त्रुटि होने का मतलब जाने से हाथ धोना। बेडिनी "बालावर्द के कोटी के नौकर-चाकर यह कहते हैं कि चमन सिंह ने बालाबाई को चाकुओं से गोद-गोदकर, बड़ी निर्ममतापूर्वक मारा और फिर उसके शरीर के छेटे-छोटे टुकड़े करके बावड़ी में फेंक दिया।"[13] बालाबाई का दोष मात्र इतना था कि एक अंग्रेज अफसर और बालाबाई को आपस में प्रेम हो गया था। ऐसे में पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रस्त एक ठाकुर को यह कैसे गंवारा हो कि वह अपनी नचनारी रखैल को किसी और को मन में भी प्यार करते सहन कर सके। 'तन, मन से मेरी नहीं तो तू किसी की नहीं' वाली एकाधिकारवादी प्रवृत्ति निरीह नचनारी रखैल स्त्रियों को भला जीवित कैसे रख सकती है? तब तो और भी नहीं जब उनका कोई 'रखवाला' ही न हो। वे धन, बल कानूनी नियमों के तहत पहले ही असुरक्षित कर दी गई हों।

आदिवासियों के बीच डायन, चुड़ैल का भय बहुत अधिक व्याप्त होता है। उन्हें यह विश्वास होता है कि बुरी आत्माएँ नाराज देवता चुडैल या डायन के रूप में उन्हें नुकसान पहुंचाती हैं। इसलिए वे जहां बुरी आत्माओं से निजाता पाने के लिए विधि-विधान करते हैं वही बुरी आत्माएँ जिन व्यक्तियों में प्रवेश करके उन्हें क्षति पहुँचा रही होती हैं वे, उससे भी निजात पाने के लिए सामूहिक रूप से उसका कत्ल कर देते हैं। डायन औरतें प्राय: वहीं होती जिन्हें सामान्य औरतों की तरह आदिवासी समाज में दर्जा नहीं प्राप्त होता है। विधवा, अविवाहित माँ, बांझ, अकेली इत्यादि औरतों को समाज बड़ी आसानी से डायन, चुडैल करार कर मार देता है। मारने की विधि प्राय: बहुत ही क्रूर और विभत्स होती है।[14] मरंग गोडा नीलकंठ हुआ में ही सामने की ताई के बच्चे विकिरण, कुपोषण के प्रभाव से असमय मर जाते हैं इसलिए वह स्वयं अपने बच्चों को ही खा जाने वाली औरत करार कर दी जाती है। बाद में जब विकिरण

के प्रभाव से दूसरी औरत के बच्चे अपंग, बीमार और असमय मर जाते हैं तो इसका कारण सामने की ताई का जादू मारना मानकर उसे पूरा समाज डायन घोषित कर मार डालने का उपक्रम करता है। अभी तीन-चार साल पहले झारखंड में तीन आदिवासी महिलाओं को डायन करार कर बड़ी बेरहमी से मारकर फेंक दिया गया था।

प्राकृतिक संसाधनों पर से आदिवासियों का दावा छूट जाने से वे गरीब होते गये हैं। अब उनका जीवन मजदूरी, खेती और जंगली संसाधनो के सहारे चल रहा है। यहां सभी सदस्य रोटी-पानी, लकड़ी की तलाश में लगे रहते हैं तब जाकर घर के सदस्यों को रोटी नसीब होती है। प्रायः रोटी, पानी, शाक, कन्द-मूल, की तलाश में आदिवासी स्त्रियों को ही बाहर जाना पड़ता है। वे जड़े खोदने, शाक-भाजी तलाशने, पाने लाने, लकड़ी, पत्ता तोड़ने के साथ ही ईंट-भट्टों और खानों में भी काम करती हैं। बाहर से खटकर घर आने पर इन्हें ही दाना-पानी की चिंता, बूढ़ों-बुजुर्गों की देखभाल तथा बच्चों की पोटी-पेशाब साफ करना पड़ता हैं। इस पर यदि पति शराबी और निकम्मा हो तो उसको भी ढोना पड़ता है। घर-बाहर का काम आदिवासी स्त्रियों को सभ्य समाज की स्त्रियों से कहीं अधिक दयनीय बनाता है। अधिक श्रम करती, कम खाती इन स्त्रियों पर और भी कई तरह की मार पड़ती है। अशिक्षा और खान-पान के अभाव में कुपोषित इन स्त्रियों को लगातार बच्चे जनने पड़ते हैं, परिणामस्वरूप यह रोग-शोक से दबी 35 तक पहुंचते-पहुंचते निढाल बूढ़ी हो जाती हैं और इनकी संततियां भी इन्हीं की तरह कुपोषित, बीमारू होती हैं।

ऐसे में अपने जीवन की रक्षा हेतु एक पुरुष तो भागकर शहर में मजदूरी कर अपना जीवन यापन कर सकता है लेकिन स्त्रियां बच्चों-बूढ़ों को छोड़कर कैसे अकेली बजबजाते चेहरे के साथ जायेगी। दुमुंहे बच्चे को साथ ले जायेंगी तो कौन देगा काम ? काम मिल भी जाए तो वे अपना तन कहां छुपायेंगी।जब सभ्य समाज की स्त्रियां सुरक्षित नहीं तब एक आदिवासी स्त्री की जान-माल की सुरक्षा क्या गारंटी ?

अभावग्रस्तता, श्रम का महिलाकरण घर-बाहर खटने और परिवार को जिलाये रखने की जिम्मेदारी कभी-कभी आदिवासियों को ऐसे पेशों-कामों को अपनाने को मजबूर कर देती हैं, जहां वे अधिक से अधिक रुपया कमा सके। 'जीवनी शक्ति रुपया बन जाने से आदिवासी समाजों में रुपये का महत्व अब उनकी परंपराओं और नैतिक मान्यताओं से बढ़कर हो गया है।' चोरी, छिनैती के पेशों को अपनाने वाली, नचनारी, 'रखनी' बनने वाली, मद रांधने तथा यौन व्यापार करने का धंधा ये औरतें इसीलिए बड़ी सहजता से अपना लेती हैं। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास अल्मा कबूतरी में कदमबाई मंसाराम की 'रखैल' इसीलिए ही बनी रहती है कि वह केवल जमीन पर ही नहीं बसी है बल्कि उसकी सहायताओं से उसका घर भी चलता है और उसके जीवन की सुरक्षा भी हो जाती है। अल्माकबूतरी में यौन व्यापार, 'रखैल' बनने का धंधा मद पीने की आंड़ में चोरी-छुपे चलता है, लेकिन शरद सिंह का उपन्यास 'पिछले

पन्ने की औरतें' और भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'रेत' की स्त्रियां इसे बाकायदा अपने धंधे से जोड़कर देखती हैं। यहां अच्छी औरत होने का मतलब कौन कितनी बड़ी चोरी कितनी सफाई से करती रही है। कितने बड़े धनवान की 'रखैल' बनी और यौन संबंधों से कितना अधिक धन कमाकर घरभर का पेट भर रही है। 'अल्मा कबूतरी' में स्त्री-पुरुष का सम्मान उसके चोरी करने की कला पर निर्भर है तो 'पिछले पन्ने की औरतें' में औरतों का महत्व चोरी, राई नाच, और 'रखनी' बनने और झूठ-फरेब करके रुपये कमा लेने की क्षमता पर निर्भर है। 'रेत' उपन्यास इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि वह यह समझाता है कि क्यों इन कमाऊ स्त्रियों का महत्व उनके समाज में पुरुषों और भाभी बनी 'पवित्र' स्त्रियों से बेहतर है। 'रेत' में दो तरह की स्त्रियां हैं एक बुआ और दूसरी भाभी। भाभी जो विवाह करके हमारे सभ्य समाज की तरह किसी की पत्नी बन जाती है और केवल उसी से संबंध बनाती हैं तथा घर भर का काम करती है। दूसरी स्त्रियां बुआएं हैं जो किसी से विवाह नहीं करती बल्कि 'धंधेवालियां' बनती है। वे यौन व्यापार करके घरभर का पेट भरती हैं। इनकी कमाई से लोगों का जीवन बचा हुआ है। ऐसे में घरों के भीतर इन कमाने वाली स्त्रियों को वही मान-सम्मान तथा दबदबा है जो सभ्य समाज में पुरुष मुखियाओं का होता है। इन स्त्रियों की वर्चस्वशाली स्थिति तथा इनके नाम पर वंश चलने की परंपरा को देखकर प्रायः यह मान लिया जाता है कि इनका समाज पुरुषसत्तात्मक नहीं बल्कि मातृसत्तात्मक है !

सवाल यह है कि क्या इन आदिवासी समाजों में स्त्रियों की मुखिया की भूमिका में होना सहज स्वभाविक स्थिति है या जीवित बचे रहने की अनिवार्य परिणति से पैदा हुई अस्वभाविक स्थिति ? चोरी, छिनैती करना, नचनारी बनना, झूठ-फरेब करना, रखैल बनना, और देह व्यापार में लगना इस समाज और इनकी स्त्रियों की दयनीय स्थिति को बताता है। सच तो यह है कि इन आदिवासी समाजों के पास जीवन जीने के 'सम्मानित' पेशे बचे ही नहीं हैं। मजबूरन इनकी स्त्रियों को वे पेशेअपनाने पड़ते हैं जिसे सभ्य समाज की स्त्री क्या कहें पुरुष भी नहीं करता है। आय के जो अन्य 'सफेद' पेशे हैं उन तक इस समाज की पहुंच नहीं बन पायी है, मजबूरन उन्हें ऐसे पेशे अपनाने पड़ते हैं जिसमें उनका जीवन कुछ दिन तक सुरक्षित रह सके। हालांकि हम इन उपन्यासों में देखते हैं कि ऐसे पेशों में लगी स्त्रियों के जीवन की सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं होती हैं। वे जिसकी रखैल बनती हैं, वे उन्हें कभी भी छोड़ सकता है, मार कर बोटी-बोटी कर मगरमच्छों को खिला सकता है। यह न भी करे तो भी सिफलिस, एड्स आदि की बीमारियां पकड़ लेती है।[15] घर की ये स्त्री मुखियाएं बुढ़ापे और बीमारी से वैसे ही भयभीत हैं जैसे की 'वेश्याएं' होती हैं। फिर ऐसे पेशों को वे क्यों स्वेच्छा से चुनती हैं ? और उनका समाज उन्हें चुनने देता है ?[16]

सच यह है कि यह आदिवासी समाज और इनकी स्त्रियां इतनी निम्नतर स्थिति में पहुँच गयी हैं कि देह ही उनके लिए कमा सकने का एकमात्र साधन बचा रह गया है। श्रम के अन्य क्षेत्रों में उनकी पहुंच न बन सकने के कारण उनके जीवन पर ही संकट पैदा हो गया है। ऐसी स्थिति में उन्हें श्रम के उन

क्षेत्रों में उतरना पड़ा जिसे 'सभ्य' समाज के लोग अनैतिक और पाप मानते हैं। चूंकि सभ्य समाज में शुचिता/यौनिकता का मूल्य अधिक हैं, इसलिए वहां सेक्स की पूर्ति इतने सहज ढंग से नहीं हो पाती है। दूसरी तरफ आदिवासी समाज के सामने संकट जीवन का है, इसलिए शुचिता का मूल्य यहां पापी पेट के कारण घट गया। जीवित बचे रहने की जद्दोजहद में इनका परिवार, समाज इन्हें ऐसे पेशे अपना लेने को लगातार प्रोत्साहित करता है जिसमें वे अधिक से अधिक कमा सकें, घर-भर का पेट भर सकें। चोरी, छिनैती, नचनारी, रखनी, देह व्यापार आदि ऐसे ही पेशे हैं। ऐसे में इन स्त्रियों का अपनी देह से भी उनका नियंत्रण छीन लेता है। विकास की नई रणनीतियां आदिवासी समाज पर लगातार यह दबाव बढ़ाती जा रही है कि वे एक नागरिक का अधिकार त्याग दें और अपने देह से भी अपनी हकदारी छोड़ दें !

लेकिन आदिवासी स्त्री के सच का दूसरा पहलू भी है, वह यह कि अपने समाज और परिवार के भीतर एक आदिवासी स्त्री बेहतर स्थिति में है। आदिवासी पुरुषों के लिए उनकी स्त्रियां मात्र यौनिक जीव नहीं हैं। उन पर शुचिता के उस तरह के बंधन नहीं है जैसे कि सभ्य समाज की स्त्रियों पर हैं। यही कारण है कि वे संबंध विच्छेद कर नया पति कर सकती हैं। लड़ाई-झगड़े होने पर वे केवल पिटाई ही नहीं खाती हैं बल्कि पति को पीटती भी हैं। उसे घर से भगा भी सकती हैं। रमणिका गुप्ता का उपन्यास 'सीता, मौसी' में सीता पति यासीन को पीटती है[17] तो संजीव के 'धार' उपन्यास की मैना निकम्मे पति को अपने घर से निकाल पुनः पति खोजकर अपना घर बसाती है।[18] यहां लड़की अशुभ या भार नहीं बल्कि बतौर परिवार के एक सदस्य की हैसियत से घर में जगह पाती है। खेलने-कूदने, हाट-बाजार जाने पर उस तरह से प्रतिबंध नहीं लगते जैसे की 'सभ्य' लड़कियों पर लगाये जाते हैं। इस समाज में स्त्री की निर्मम हत्याएं और बलात्कार नहीं। सभ्य समाज की स्त्रियां कमाने के बावजूद खर्च करने के अधिकार से वंचित है और घर की मुखिया बनने का तो वे केवल सपना ही देख सकती है। इसके बरक्स एक आदिवासी समाज की महिला बतौर मुखिया की हैसियत से कमाकर कुछ दिन के लिए ही सही घर चलाती है, मुखिया बनती है और रुपये खर्च करने के उसके अधिकार भी सुरक्षित रहते हैं। आदिवासी समाज में एक आदिवासी स्त्री बतौर एक नागरिक का स्थान पाती है। परन्तु उपनिवेशवाद और पूंजीवाद के बाद उसकी समान नागरिकता पर लगातार संकट खड़ा हो रहा है। वह मजबूर होती जा रही है दोयम दर्जे की नागरिक बनने के लिए![19]

संदर्भ ग्रंथ-

1. डूब, वीरेन्द्र जैन,वाणी प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991, आवृत्ति, 2010, पृ. 108—109
2. रणेन्द, ग्लोबल गांव का देवता, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण, 2013, पृ. 17
3. जंगल जहां शुरू होता, संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति2012,,,पृ. 43
4. गायब होता देश, रणेन्द्र, पेंगुइन बुक्स, गुड़गांव, इंडिया, पुनर्मुदित संस्करण, 2014, पृ.157
5. वही, पृ.160

6. वही, पृ.159
7. वही, पृ.160
8. महुआ माझी, मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण, 2005, पृ.15
9. अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण, 2000, पांचवी आवृत्ति, 2013, पृ.24-25
10. अल्मा कबूतरी मैत्रेयी, पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवी आवृत्ति, 2003, पृ. 44-45
11. भारत में स्त्री असमानता, गोपा जोशी, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ. 192,
12. पिछले पन्ने की औरतें, शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ. 39,
13. वही, पृ. 34
14. पढ़ें, शेखर मलिक की कहानी डायन मारी, आदिवासी कहानियां, केदार मीणा (संपा.) अलख प्रकाशन, जयपुर, प्रथमसंस्करण, 2013
15. . भगवानदास मोवाल, रेत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण, 2008, पृ.107
16. .भूमिका,शरद सिंह, पिछले पन्ने की औरतें, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण,2010, पृ.68
17. . रमणिका गुप्ता, सीता और मौसी उपन्यास की भूमिका, रमणिका फाउंडेसन, दिल्ली
18. . देखें, संजीव का उपन्यास धार
19. . देखें, गोपा जोशी का लेख, आदिवासी व्यवस्था का विघटन, स्त्री का विस्थापन, भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लेखक- संजय साव

स्थान- पूर्व बर्दमान, पश्चिम बंगाल

सम्पर्क सूत्र- 8670373104

(शोध आलेख)

केदारनाथ सिंह की कविता 'गाँव आने पर' : एक अवलोकन

अभिषेक सौरभ

केदारनाथ सिंह की कविताओं में ग्राम्य और शहरी अनुभवों की विशेष बुनावट एक साथ सहज परिलक्षित की जा सकती है। उनका जीवनकाल भी एक ऐसा दौर रहा है, जिसमें लोगों के गाँव छूटते रहे हैं और उनसे शहरों का निर्माण होता रहा है | स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारतीय समाज के शहरीकरण में जो तेजी आई, कवि और उनकी पीढ़ी इसके साक्षी रहे हैं। इस दौर के बहुत सारे कवियों की रचना के केंद्र में गाँव और शहर का द्वंद्व रहा है । गांवों के प्रति नौस्टेलजिक-भाव के साथ-साथ वहाँ की ग़रीबी, शोषण, ऊँच-नीच आदि उनकी रचनात्मकता और विचारों के केंद्र में रहा किन्तु उनमें केदारनाथ सिंह की दृष्टि अलग रही है | केदारनाथ सिंह की दृष्टि के गाँव में सामूहिकता, सामुदायिकता-बोध, लोक-संस्कृति, देशजता, गँवई-संस्कृति की निश्छलता, कर्मण्यता और उनका संघर्ष प्रमुख रूप से उभर कर आया है | दयनीयता, दरिद्रता और परायापन उनके गाँव को स्वीकार्य नहीं है।

उनकी कविता 'गाँव आने पर' का रचनावर्ष 1994 है | अगले वर्ष 1995 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित उनके कविता-संग्रह की पुस्तक 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में 'गाँव आने पर' शीर्षक कविता संकलित थी | नब्बे का यह दशक भारतीय समाज में उदारीकरण, भूमंडलीकरण और लाइसेंस-राज के खात्मे के साथ-साथ कुछ विशेष अर्थों में साम्प्रदायिकता के उभार (बाबरी मस्जिद का तोड़ा जाना) तथा मंडल-कमंडल राजनीतिक-आंदोलनों के लिए जाना जाता है | यह वह दौर था जब मार्शल मैक्लुहान के विश्व-ग्राम की अवधारणा का जोर भारतीय-समाज के मानस पर भी खासा प्रभाव छोड़ रहा था | दुनिया एक गाँव (विश्व-ग्राम) में सिमट रही थी और खुले बाज़ार के रूप में स्थापित भी हो रही थी | इन्हीं सामयिक अंतरालों में लिखी गयी 'गाँव आने पर' कविता अपने शीर्षक से ही इस तथ्य को सहज भाव में इत्तला करती हुई चलती है कि बात गाँव लौट कर आने पर प्रारम्भ हो रही है। जाहिर तौर पर यह लौट कर आना शहर से ही जुड़ा है, जहाँ कवि विश्वविद्यालय में शिक्षक के तौर पर कार्यरत हैं। यद्यपि अबकि गाँव आ जाने में कवि के अंतस की स्थिति कुछ-कुछ किंकर्तव्यविमूढ़ सी हो चली है। असमंजस का भाव तो है ही । कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही कवि कहता है- "अब आ तो गया हैं। पर क्या करूँ मैं?"[1]

गौरतलब है कि इस दौर में आमतौर पर गाँव खाली हो रहे थे। ग्रामीण कृषि-मजदूर, परम्परागत पेशे वाले कुम्हार-कहार-बढ़ई-लुहार-धुनिया-तम्बोली-लकड़हारा आदि तथा छोटे-मझोले किसान सब किसी न किसी रोजगार की तलाश में शहर की ओर पलायन कर रहे थे । अधिकांश ग्रामीण परिवारों से कोई-न-कोई सदस्य निकटवर्ती शहर या जहाँ से रोजगार की बेहतर उम्मीदें नज़र आ रही थीं, उस शहर

की ओर विचारोन्मुख थे तथा ठौर-ठिकाने की गुंजाइश ढूँढ रहे थे | कलकत्ता, सूरत, मुंबई, अहमदाबाद, दिल्ली, बंगलुरु, चेन्नई, धनबाद, लखनऊ, पटना, राउरकेला आदि जैसे भारतीय शहर, गांवों से आये हुए इन नये कामगारों से निरंतर आबाद होते जा रहे थे | जिस तेजी से शहर आदि आवाद होते जा रहे थे, उसी अनुपात में गाँव खाली | ऐसे में; एक तो बुढ़ापे का खालीपन, ऊपर से बचपन के संगी-साथियों-परिचितों की अनुपस्थिति से खाली गाँव, यदि ऊबन की स्थिति को और दुरूह नहीं बनायेगा तो उस ऊब में रस का संचार तो कतई ही नहीं करेगा | शायद इसी ऊब के सन्दर्भ में; अपनी वर्तमान आयु को एक बूढे पक्षी के बरक्स रखते हुए कवि कहते हैं- "एक बूढ़े पक्षी की तरह लौट-लौटकर/मैं क्यों यहाँ चला आता हूँ बार-बार?/पृथ्वी पर ऊब/क्या उतनी ही पुरानी है/जितनी दूब?"[2]

बूढ़े पक्षी की तरह लौट-लौटकर आने की बात में दो और तथ्य निहित हैं; एक तो यह कि जहाँ लौट कर बूढ़ा पक्षी आयेगा वह जगह निस्संदेह उसका बुढ़ापा व्यतीत करने के लिए सबसे उपयुक्त और उसकी हैसियत का सबसे उत्तम जगह होगा | ऐसी जगह, जहाँ कि एक सामर्थ्यहीन वृद्ध सम्पूर्ण सामाजिक सुरक्षा व देख-रेख की भावना के साथ अच्छे से अपना बुढ़ापा व्यतीत कर सके | बुढ़ापे की हाड़ी-व्याधि से जूझने के लिए जहाँ वक़्त-बेवक्त यदि सहारे की जरुरत हो तो दो हाथ उसकी मदद को जरुर उपस्थित हों। दूसरा तथ्य यह है कि बुढ़ापे में नीड़ का निर्माण फ़िर से नहीं हो पाता | एक घर बनाने में लोगों का सारा सामर्थ्य और जमा-पूँजी जा चुकी होती है फिर भला बुढ़ापे में अपने चिर-परिचित ठिकाने को छोड़कर और कहाँ जाया जाए | शहर के किराये वाले मकान का किराया चुकाने की कमाई बुढ़ापे में संभव नहीं । नये के निर्माण का सामर्थ्य तो वैसे भी नहीं | यदि थोड़ी बचाकर रखी जमा-पूँजी से ईंटें खड़ी भी कर ली तो चिर- परिचित माधुर्य वाले पड़ोसी और पहचान के लोग तो यकायक नहीं ही मिल पाते हैं। लेकिन परेशानी तब होती है जब अपना घरौंदा, घर, गाँव भी एक अजनबीयत के मोह-पाश में बंध जाए | लाख अपनत्व के बावजूद भी सामयिक परायेपन का एक झीना यथार्थ सब पर हावी हो जाए | उस वक़्त कवि को कुछ नहीं सूझता । एक घनी पेचीदगी महसूस होती है और कवि

सोचने लगता है कि- "क्या करूँ मैं? क्या करूँ, क्या करूँ कि लगे/कि मैं इन्हीं में से हैं। इन्हीं का हैं। कि यही हैं मेरे लोग/जिनका मैं दम भरता हूँ कविता में"[3]

यह सच है कि कवि के हृदयस्थल पर गाँव में बिताये जीवन के शीतलता की जो छाया थी, वो कभी धूमिल नहीं पड़ी । 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में कवि लिखते हैं, "मेरा घर गंगा और घाघरा के बीच में है । घर के ठीक सामने एक छोटा-सा नाला है जो दोनों को मिलाता है | मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बराबर टकराती रहती हैं। खुले कछार, मक्का के खेत और दूर-दूर तक फैली पगडंडियों की छाप आज भी मेरे मन पर उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस दिन थी, जब मैं पहली बार देहात के ठेठ वातावरण से शहर के धूमैले और शतशः खण्डित आकाश के नीचे आया ।"[4] कवि गाँव में रहे, छोटे-मझोले शहरों में रहे, देश की राजधानी में रहे । कवि गाँव की भी सच्चाई जानते हैं और शहरी

रहन-सहन से भी परिचित हो चुके हैं। कवि के अंतस को इन दोनों जगहों की तुलना करने पर ग्रामीण सामाजिकता-सामूहिकता ही अपनी ओर खींच पाती है। कवि के गाँव आने का एक कारण तो यह भी है कि ऊब के बावजूद भी ग्राम्य- संस्कृति से, अपने गाँव के लोग और वहाँ की मिट्टी से कवि को एक आत्मिक लगाव है और यहाँ की आबोहवा भी कवि के व्यक्तित्व से मेल खाती है | कवि के लिए, शहर की आधुनिकता और चकाचौंध किस तरह डरावनी है, इसकी अनुगूँज कवि की ही एक दूसरी कविता 'ऊँचाई' में स्पष्ट है- "मैं वहाँ पहुँचा/और डर गया.....मेरे शहर के लोगों/यह कितना भयानक है/कि शहर की सारी सीढियाँ मिलकर/जिस महान ऊँचाई तक जाती हैं। वहाँ कोई नहीं रहता!"[5]

नित तेजी से बदलती हुई दुनिया, दुनिया भर के शहरों और उन शहरों से लगे, दूर-सुदूर बसे गांवों की नियति अब पूंजीवाद के हाथ में है; पूंजीवाद के बहाने बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय- राष्ट्रीय कंपनीयों के हाथ में है, नये पुराने धन्नासेठों, उद्योगपतियों और उनकी हितैषी लोकतांत्रिक सरकारों के हाथ में है। अर्थ (मुद्रा) जिसके केंद्र में हो, ऐसी सामाजिक व्यवस्था में अपना-पराया भी आर्थिक आधार पर ही तय होते होंगे ? है ना ! किन्तु कवि दुविधा में हैं। यह दुविधा ग्राम्यता और शहरीकरण के बीच है, गाँव, शहर और राजधानी के बीच है | इस झिझक के केंद्र में अपना और पराया की पूँजीगत वर्गीय-चेतना है | यह अलगाव एकपक्षीय विकास और आधुनिकता की देन है। व्यक्तिवाद और सामुदायिकता की दो धूरी बन चुकी है; जो एक में है वो

दूजे में समा नहीं सकता | आप इन दोनों धूरियों में बुर्जुवा और सर्वहारा की भी पहचान कर सकते हैं। बकौल हरिवंशराय बच्चन कवित्व चूँकि दैव का सबसे बड़ा दंड है इसलिए कवि दोनों तरफ है किन्तु दिल्ली का अस्तित्व ज्यादा बड़ा, कठोर और मारक है। अपनी असमंजसपूर्ण मनःस्थिति में कवि कहते हैं- "छू लूँ किसी को ?/ लिपट जाऊँ किसी से?/मिलूँ/पर किस तरह मिलूँ/कि बस मैं ही मिलूँ/और दिल्ली न आए बीच में?'[6]

यह दिल्ली जो है, यह शहर और गाँव के बीच की वास्तविक दूरी है। गाँव में लोग अब भी यह कहते हैं कि 'अभी दिल्ली दूर है'। यह दूरी घट रही है या बढ़ रही है, यह अलग से विवाद-संवाद का विषय निश्चित तौर पर है किन्तु गाँव और शहर से मेरे दिल्ली की जो सच्चाई है, वह शहर से परे संग्राहक की छवि ज्यादा है | समूचे-भारत के मेहनत की सारी कमाई अकेली दिल्ली को अपनी सुख-सुविधा हेतु अपने दरबार में चाहिए और वो भी अपनी कीमत पर, अपनी शर्तों पर | दिल्ली 'आम' और 'खास' के व्यवस्था-निर्धारण की सबसे बड़ी प्राधिकारी है। दिल्ली 'खास' का विशेष ख्याल रखना जानती है और कवि 'आम' से गले मिलना चाहते हैं, लिपटना चाहते हैं तो दिल्ली का बीच में आना स्वाभाविक है।

बकौल केदारनाथ सिंह, "मानव-संस्कृति के विकास में कवि का योग दो प्रकार से होता है- नवीन परिस्थितियों के तल में अंतःसलिला की तरह बहती हुई अनुभूत लय से आविष्कार के रूप में, तथा अछूते बिम्बों की कलात्मक योजना के रूप में। पहले में कवि का व्यक्तित्व मुखर होता है, दूसरे में वस्तु-जगत के साथ उस का अधिकाधिक सम्बन्ध | लय के आविष्कार के द्वारा वह मानवीय संवेदना को व्यापक बनाता है और नवीन बिम्बों के परिचय से हमारी ऐन्द्रिय चेतना को वृहत्तर यथार्थ के साथ सम्पृक्त करता है ।"[7] कवि मानवीय संवेदना का सच्चा संवाहक है ही, वस्तु-जगत में 'आम लोगों' से उसका खासा लगाव है, ग्राम्यता और प्रकृति से अपने जुड़ाव को वह गाहे-बगाहे जतलाता रहा है, राज-समाज और जग-जीवन की नवीन परिस्थितियों से सीधा साक्षात्कार कर सकने की ईमानदारी उसमें है। कुल मिलाकर कवित्व-धर्म और इनसे जुड़े सरोकारों के प्रति कवि की निष्ठा असंदिग्ध है। और फिर गाँव कवि के लिए हमेशा से महत्वपूर्ण रहा है । अधिकांश का मानना है कि भारत गांवों में बसता है | कवि मानता है कि 'वहाँ वे कुछ वस्तुएँ अभी भी सुरक्षित हैं, जो आज के युग में तेजी से ध्वस्त हो रही हैं। उन वस्तुओं से कवि को बेहद प्रेम है और वह उन्हें आज के लिए ही नहीं, भविष्य के लिए भी बचाकर रखना चाहता है ।[8] उन वस्तुओं में गाँव की दरिद्रता, शोषण और महाजनी ब्याज़ का तीव्र नकार है, उपेक्षा की हद तक | कवि के लिए उन सहेजनीय वस्तुओं में ऋतुओं के अनुसार रंग बदलनेवाली गाँव की उर्वर-शस्य-श्यामला जमीन, नदियों का कछार, गाँव की चक्की, वसंत ऋतू, हल-बैल, बिना नाम की नदी, मछली और मछली फँसाने के लिए बंसी लगाकर बैठे झुम्मन मियाँ, रोटी, माली का कुदाल, माँझी का पुल, पगडण्डी, पशुओं का बुखार, पेड़, सूखी धरती पर चोंच मारता सारस, भैंस आदि है।

गाँव के बारे में बात करते हुए केदारनाथ सिंह एक बड़ी गूढ़ बात कहते हैं, "गाँव आज सड़कों के जाल और आवागमन के बढ़ते हुए साधनों के कारण फैला जरुर है और वृहत्तर दुनिया से उसके रग-रेशे भी जुड़े हैं, पर कई बार मुझे लगता है कि गाँव का मन अभी न तो अपनी भूलने की आदत से मुक्त हुआ है, न ही वह इस सच्चाई के साथ अपनी संगति ही बैठा सका है कि वह अपनी चौहद्दी में सिमटा अब एक निस्संग गाँव नहीं है।"[9] ऐसे ही निस्संग नहीं रह गये अपने गाँव में लौट कर आने पर कवि इस बात के लिए फिक्रमंद है कि इस पदार्थवादी युग में वह भी कहीं अपने ही लोगों के बीच में उपेक्षित ना हो जाये, या फिर कहीं पहचान में ही ना आये | उसके चेहरे पर जो यात्रा की गर्द और थकान स्पष्ट दिख रही है, उस धुँधलेपन का आड़ लेकर कहीं उसे अपने ही लोगों द्वारा पहचानने से इन्कार ना कर दिया जाये या फिर उसके गँदलेपन के कारण कहीं उसे कोई तौलिया या सूटकेस ही न समझ लिया जाए | जबकि कवि अपने गाँव लौटा है तो अपनत्व के रस-भाव से लबालब भरा हुआ है। वह गाँव की सामूहिक-संस्कृति को अपने नथुनों में ताजी हवा के मानिंद भरने को आतुर है | वह अपना-पराया, तेरा घर-मेरा घर के दुनियावी ज़िद के सामने एक प्रश्नचिन्ह है | कवि अपने उद्गार व्यक्त करता है और साथ ही उसमें अपने सही-पहचान की चिंता भी जाहिर करता है, "जो मेरे नहीं हैं/आख़िर वे भी तो मेरे ही हैं।

चाहे जहाँ भी रहते हों/फिर क्यों यह जिद/कि यही-यही/सिर्फ़ यही मेरा घर है?../.. अपनी सारी गर्द/और थकान के साथ/अब आ तो गया हूँ। पर यह कैसे साबित हो/कि उनकी आँखों में/मैं कोई तौलिया या सूटकेस नहीं/मैं ही हूँ"[10]

गाँव का जिक्र होते ही खेत और किसान-जाति की याद बरबस चली आती है। वर्तमान में भी किसानों के बीच बहुत तीव्र बैचैनी है। देश के समक्ष विभिन्न प्रान्तों में प्रत्येक वर्ष हजारों किसानों की आत्महत्या एक गंभीर, चिंतनीय और कटु वास्तविकता का रूप धारण कर चुकी है। आत्महत्या से अलग, वैश्वीकरण, सरकारी उपेक्षा, कृषि-कार्य के उपरांत फसलों के लागत मूल्य का भी ना मिल पाना आदि अनेक व्यावहारिक समस्याएँ किसानों के जीवन में है जिनसे उनका जीवन-स्तर लगातार निम्नतर होता जा रहा है। कवि की दृष्टि से किसान-जाति की मुश्किलें ओझल नहीं हैं, साथ ही किसान की मेहनत के प्रति सम्मान का भाव भी उनकी कविताओं में मुखरित है | अपने लघु-निबंध 'मेरा गाँव सुन्दर है, लेकिन उसे कुछ भी याद नहीं' में केदारनाथ सिंह लिखते हैं, "सच्चाई यह है कि आज भारतीय किसान वैश्वीकरण के अदृश्य पहलवान से लड़ने के लिए अखाड़े में खड़ा तो है, पर उसके पास कोई दाँव नहीं है। [11] सभी जानते हैं कि शहर की मंडी से किसान ठगाकर-हारकर ही घर आते हैं। केदारनाथ सिंह किसान की इस पीड़ा को शब्द देते हैं और अनाज के हवाले से कहते हैं, "नहीं/हम मंडी नहीं जाएँगे/खलिहान से उठते हुए कहते हैं दाने "[12]

किसान और अनाज को ध्यान में रखते हुए कवि द्वारा 1986 में लिखी गयी एक अन्य शीर्षक कविता 'कुछ सूत्र जो एक किसान बाप ने बेटे को दिए' में किसान अपने बेटे से कहता है- "हरा पत्ता/कभी मत तोड़ना/और अगर तोड़ना तो ऐसे/कि पेड़ को जरा भी/न हो पीड़ा.....रात को रोटी जब भी तोड़ना/तो पहले सिर झुकाकर/गेहूँ के पौधे को याद कर लेना "[13]

यद्यपि आज गाँव में खाली-बेगार बैठे युवाओं की एक अच्छी संख्या हो चली है जिसमें शनैः शनैः बढ़ोतरी ही हो रही है। खाली दिमाग शैतान का घर की तर्ज पर इन बेकाम युवाओं के कारण गाँव में असुरक्षा और हिंसा का वातावरण गहराता जा रहा है। सामूहिक जीवन का ताना-बाना भी असुरक्षा बोध और असामाजिक तत्वों में बढ़ोतरी से चरमराता जा रहा है। यह स्थिति कमोबेश शहरी जीवन पर भी लागू है; रोजगार-विहीन युवाओं की दिशाहीन भीड़ वहाँ भी है। पीढ़ियों को जोड़े रखने वाली वाचिक परम्परा गांवों में धीरे-धीरे समाप्ति के कगार पर है और साहित्य अब गाँव की सामूहिक स्मृति से दूर होते जा रहा है। इन चिंताओं के मद्देनजर अपने लघु-आलेख 'मेरा गाँव सुन्दर है, लेकिन उसे कुछ भी याद नहीं' में केदारनाथ सिंह लिखते हैं, "मैं अपने गाँव को प्यार करता हूँ, पर सोचता हूँ कि यदि कोई उसका इतिहास लिखना चाहे तो उस खालीपन का क्या करेगा, जो लोगों की स्मृति में यहाँ से वहाँ तक सपाट फैला है ?" [14]

गाँव लौट कर आने पर कवि इस खालीपन का प्रभाव अपने चहुँओर भी पाता है। इस ख़ालीपन में अगर ऊब की गंध है तो साफ-स्वच्छ वायु का निर्मल प्रवाह भी है और उस ठंढ़ी, सुकून-भरी हवा का घेराव कवि को निरंतर आच्छादित किये हुए है जो कदाचित उसे कभी-कभी विचलित भी कर देता हो। कवि को यह किंचित विचलन इसलिए महसूस हो सकता है क्योंकि कवि की जीवनशैली पर अब भौतिक सुख-सुविधाओं युक्त शहरी जीवनशैली की भी छाप है। किन्तु अंत-अंत तक कवि को ग्राम्य-धरा की नैसर्गिकता का ही कायल हो जाना तय है। अपने गाँव की हवा, उस अकुंठित-प्रदुषणरहित आबोहवा में प्राणों तक छुआया गया गहरा श्वास और अपने ग्रामवासियों जिसे कवि 'मेरे लोग' मान रहा है, का सम्मिलित प्रभाव कवि पर इस तरह प्रभावोत्पादक है कि कवि उनसे हमकदम हो सकने के लिए उनके चेहरों को देख कर अपने घड़ी की सुईओं का बार-बार प्रयत्नपूर्वक मिलान करता है। 'गाँव आने पर' कविता की ही कुछ पंक्तियाँ इसकी पुष्टि करती हैं, "यह हवा/मुझे घेरती क्यों है? क्यों यहाँ चलते हुए लगता है/अपनी साँस के अन्दर के/किसी गहरे भरे मैदान में चल रहा हूँ..... कौन हैं ये लोग/जो कि मेरे हैं?/इनके चेहरों को देखकर/मुझे अपनी घड़ी की सुई/ठीक क्यों करनी पड़ती है बार-बार [15]

यद्यपि केदारनाथ सिंह ने अपने ग्रामवासियों के चेहरे को देख कर अपनी घड़ी की सुईयों को ठीक करने की बात इस कविता 'गाँव आने पर' में की है किन्तु सच्चाई यही है कि अपनी अधिकांश रचनाओं में उन्होंने गाँव की स्मृतियों का ही सहारा लिया है। अपनी रचनात्मकता को समय के सापेक्ष, समकालीन रखने में उन्होंने लोक से गहरा रिश्ता रखते हुए उन्हीं अनगढ़ मूरतों का सहारा लिया, जिन्हें वो 'अपना लोग' मानते थे और यह जानते हुए भी कि वो उन्हें कभी नहीं पड़ेंगे, उन्हीं के लिए पूरा जोर लगाकर लिखते थे, अपनी कविताओं में उनका ही दम भरते थे।

<u>संदर्भ ग्रंथ-</u>

1.केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ: सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली. 2013, पृ.सं.-42

2. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं-42

3.केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 43

4.तीसरा सप्तक, सं. अज्ञेय, वक्तव्य, केदारनाथ सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृ.सं. 122

5. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं.-107

6. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 43-44

7. तीसरा सप्तक, सं. अज्ञेय, वक्तव्य, केदारनाथ सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृ.सं. 122-123

8.नंदकिशोर नवल, समकालीन काव्य-यात्रा (आलोचना), किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994, पृ.सं. 139

9.केदारनाथ सिंह, कब्रिस्तान में पंचायत, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ.सं. 34

10. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013,पृ.सं.-43

11.केदारनाथ सिंह, कब्रिस्तान में पंचायत, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ.सं. 33

12. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 29

13. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ सं. परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013,पृ.सं. 38-39

14.केदारनाथ सिंह, कब्रिस्तान में पचाँयत, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ.सं. 35

15.केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ से परमानन्द श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2013,पृष्ठ- 42-43

अभिषेक सौरभ

भारतीय भाषा केंद्र, जेएनयू, नई दिल्ली

ईमेल- abhisjnu@gmail.com

मो.- 7011091782

(कविता)

गौरव भारती

1.स्थगन

नियमितताओं के बीच

खुली खिड़कियों का ; कोई अर्थ नहीं रह गया है

चाँद मेरी रसोई की खिड़की के ठीक सामने होता है देर तलक

उसकी नियमितता भी उबाऊ है
आस पास जो भी है
सब ठहरा हुआ है झील सा
एक ही प्रतिबिम्ब लिए
हिलता हुआ
जीवन स्थगित है
और अक्सर रात के तीसरे पहर में; स्टेशन से खुलती
ट्रेन की आवाज़ सुनकर
अपने स्थगन पर मैं रो देता हूँ ...

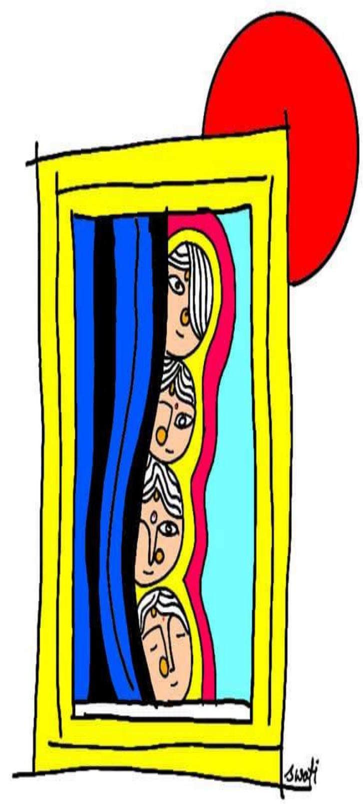

2.लोकगीत

स्त्रियाँ-
जिन्होंने बांध किनारे फ़सलें काटीं
और सड़क किनारे रात
स्त्रियाँ-
जिन्होंने नदी को समझा मायका

और कह-सुनाई हर बात

स्त्रियाँ-

जो अपनी देह से निकलकर

तलाशती रहीं अपना घर
जिन्होंने नींद में सफ़र किया और स्वप्न में चाहती रहीं प्रतिदान
माथे पर संज्ञाओं का अपरिमित भार ढ़ोते हुए
जो लगभग चुप रहीं

उन्होंने गाया गीत
और गीतों में बुना प्रतिपक्ष ।

3. नैराश्य

जो मुझे भूल गए
मैंने उन्हें भी याद रखा
जिन्होंने मुझे याद किया
उनके लिए दुआएँ माँगी

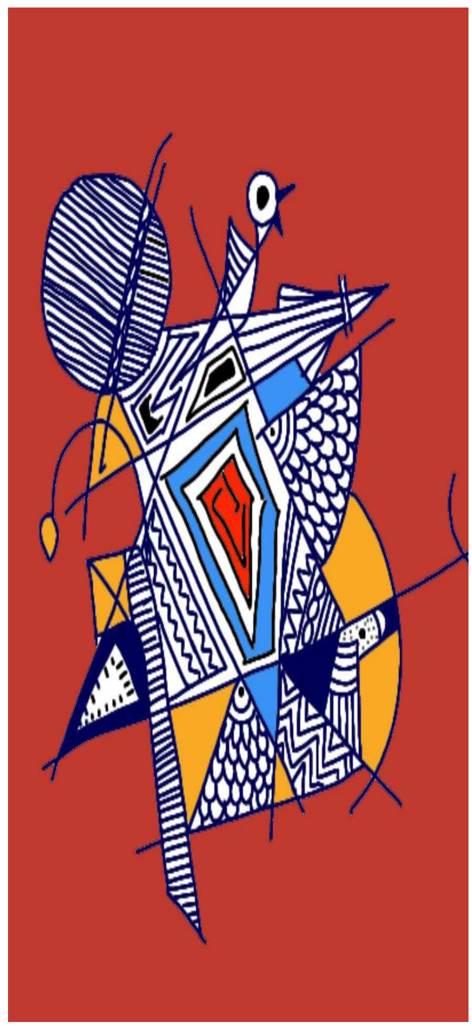

मैंने ख़ूब किया इंतज़ार शजर की तरह
फिर एक दिन चिड़िया बन उड़ गया

मैं कभी गरजा बादलों की तरह
तो कभी बारिश-सा बरस पड़ा
कभी थिरका
तो ख़ूब थिरका लोकगीतों की धुन पर
कभी रोया
तो ख़ूब रोया बंद कमरे की बत्ती बुझाकर

मैं बार-बार लौटता रहा अपने गाँव
बदलती हवा को सूँघता रहा हर बार
मैं तलाशता रहा पगडंडियाँ
मुझे सड़कें मिलीं
मैं ढूँढ़ता रहा घर
मुझे दीवारें मिलीं
मैं चल पड़ा दक्षिण की दिशा में

संभावनाएँ तलाशते हुए
जहाँ एक नदी थी
वहाँ अब रेत है
जहाँ उम्मीद थी वहाँ आपदा है

मैं किस मुँह से देखूँ अपना चेहरा आईने में
कि मैं जो हूँ वह मैं नहीं हूँ
कि मैं जो था वह नहीं रहा शेष
मेरा वजूद पड़ा है
श्मशान में टूटे बिखरे घड़े-सा
मुझे देखना हो तो कोई उजड़ा हुआ गाँव देखो

मैं बस भी गया तो कैसे होगा बसर
शिकस्ता कश्ती को अब किस बात का डर
डूबना तय है
तय है डूबना
कैसे होगा बसर?

दीवारें मुझे पाट देना चाहती हैं
आकाश मुझे निगल जाना चाहता है
हवा दबा देना चाहती है मुझे
आग जला देना चाहती है मुझे
चीख़ें भर गई हैं मेरे भीतर इस क़दर
कि मैं ख़ुद को छूता हूँ तो मेरे कान बजने लगते हैं

ओ! मेरी पृथ्वी
मुझे अपनी गोद में लो

मैं सोना चाहता हूँ थोड़ी देर
कि जहाँ इंतज़ार है वहाँ सन्नाटा है अब
कि जहाँ आकाश है वहाँ अँधेरा है अब
कि जहाँ मैं हूँ वहाँ कुछ भी नहीं है अब।

4. यात्रा

जब कभी भी
तुम्हारी उँगलियों के बीच के फ़ासले को
मैंने अपनी उँगलियों से भरा है
मुझे हर बार लगा
हमने एक लंबी यात्रा पूरी की जब

5.दरमियाँ

हमारी छोटी सी इस दुनिया में
इतनी जगह नहीं थी, कि
बिछड़कर फिर न मिलने की संभावनाएँ ख़त्म हो जातीं

हम बिछड़कर मिलते रहे
और मिलकर बिछड़ते रहे

इस दरमियाँ
मैंने इंतज़ार को जीया
कुछ कहानियाँ जुटाईं
किसी अजनबी के साथ बेपरवाही की हद तक अभिव्यक्त हुआ
नए शहरों को देखा
नए लोगों को अपने क़रीब जगह दी

इस दरमियाँ
मैं बार-बार ख़ुद को उधेड़कर सिलता रहा
कुछ पौधे उगाए

बच्चों को हँसाया
और किराए के कमरे में रहते हुए
घर के बारे में लगातार सोचता रहा

इस दरमियाँ
मैंने उन संभावनाओं की तरफ़ भी देखा
जो हास्यास्पद होते हुए भी उम्मीद की तरह दिखे।

कवि परिचय - गौरव भारती, जन्म- बेगूसराय, बिहार |
दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातक और परास्नातक ।
भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली से एम.फिल और पीएच.डी |
इन्द्रप्रस्थ भारती, मुक्तांचल, कविता बिहान, वागर्थ, परिकथा, आजकल, नया ज्ञानोदय, सदानीरा, समहुत, विभोम स्वर, कथानक, कथादेश, कथाक्रम आदि पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित |
- वर्तमान में मुंशी सिंह कॉलेज, मोतिहारी के स्नातकोत्तर हिंदी विभाग में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर के रूप में कार्यरत।
ईमेल- sam.gaurav013@gmail.com,
संपर्क- 9015326408

(कहानी)

अपराजिता

स्वाति बरनवाल

उस दिन मैं गली के आख़िरी मकान से दनदनाते हुए निकली। नीली कुर्ती और पीले पजामे में। सूती की ओढ़नी कुछ तीतर-बितर गले से सटी हुई, मेरे सिने पर थी। मंगलसूत्र, ओढ़नी की झीनी से हल्का दिखाई देता और बराबर सीने पर इधर से उधर होता रहता, तेज़ चलने की वजह से। मेरे पैर खुद ब खुद भागे जा रहे थे। हवाई चप्पल पूरी देह का भार उठाए हुए और मैं जीवन का सारा भार अपने मन और कंधे पर उठाए हुए; बदहवाश, पक्की मगर बीच - बीच में खुदे गड्ढे वाले सड़क पर भागे जा रही थी। गिरने का डर भी सता रहा था, ध्यान जरा भी इधर से उधर हुआ कि मेरे पैर गड्ढे में पड़ेंगे। पिछले साल की बरसात में दादी का पैर फंसकर, टूट गया था इस गड्ढे में। बस, ट्रक और ट्रैक्टर वालों की लापरवाही से सड़क टूटती हैं या नेताओं, ठेकेदारों की कमी से जो कि सारे पैसों को जेब में भर लेते हैं और सड़क मजबूत नहीं बनाते हैं। लोगों की भी कुछ जिम्मेदारी बनती है, अपने हक के लिए आवाज़ उठाए, अकेली सरकार क्या क्या करें। जनता क्या नहीं कर सकती अगर चाहें तो लेकिन ये अपनी नशें पकड़ा रहे हैं और नेताओं का तो काम ही है आम आदमी से जुड़कर उनका शोषण करना। ये नेता ही हैं जो आम आदमी से जुड़ते हैं वरना इस जमाने में सबको विशिष्टता की तलाश है। इस बीच लगातार मुझे अपनी बेटी की चिंता हो रही थी कि मुझे ये सब नहीं सोचना है अभी। सारा फोकस उसे ढुंढने में लगानी होगी। आख़िर क्यों नहीं आई अबतक? गली के सारे बच्चें तो आ गए। ये क्यों नहीं आई? क्या बात हुई होगी। रोज आ जाती है समय पर इसलिए चिंता नहीं होती। लेकिन आज ऐसा क्या हुआ होगा? सलवार की दाहिने जेब से फोन निकालकर, मैं कॉल लगाने लगी। रिंग लगातार होती रही बीच में मन हुआ कि कॉल कट कर दूँ लेकिन ऐसा नहीं कर पाई। ट्रिंग..ट्रिंग...ट्रिंग...ट्रिंग…ट्रिंग…ट्रिंग…! पर उधर से कोई जवाब नहीं मिला। स्कूल में फोन करती हूँ, क्या पता वहीं से कुछ पता चल जाए। फोन की घंटी अभी पूरी भी नहीं हुई कि उधर से आवाज़ आयी। फिर, “हाँ हेलो! अच्छा! स्कूल खुला है? अच्छा! बंद हो चुका है! कोई बात नहीं!” अब क्या करें? यहाँ से भी कोई जानकारी हाथ नहीं लगी। पूरे दो घंटे की देरी! अब मुझसे और बर्दाश्त नहीं होता। ‘बस ड्राइवर’ को फोन करके देखी, लेकिन क्या फ़ायदा होता। बस ड्राइवर को कुछ लेना देना तो है नहीं, पैदल आने वाले बच्चों से। बेवजह उसे भी क्या परेशान करना। अब कहाँ जाऊँ उसे ढूँढने? समय बहुत खराब चल रहा है आजकल उससे भी ज्यादा ख़राब किस्मत। सोच-सोचकर ही मेरा माथा चकरा रहा था। परिवार में किसी को बताऊँगी तो सब टेंशन में आ जायेंगे। मोहल्ले वालों को ख़बर होगी तो भारी मुसीबत, कितना चौकन्ना रहना पड़ता है मोहल्लों वालो से। ‘घर का भेदिया लंका ढाहे’ इस कहावत को चरितार्थ करने वाले पड़ोसियों से बचकर मैं कितनी सतर्कता से निकली थी मैं ही जानती थी। आख़िर कहाँ रह गयी होगी? ‘जिओ फाइव जी’ से भी तेज धड़कन, जो सीने में धड़क रही

थी; जो अब 'सेवन जी' के बराबर हो चुकी थी। किसी अज्ञात घटना घटित होने के अंदेशे से। मैं और तेज़ चलने लगी। तेज़ चलने के कारण दायां पैर ऐंठ गया। उसकी ऐंठन का जोर हवाई चप्पल के दायें फीते पर पड़ा। और अब तो एक और मुसीबत! चप्पल के फीता टूट गया। अब क्या करूं? बिना चप्पल तो मैं जल्दी-जल्दी चल भी नहीं पाती। आदत ही ऐसी बन गई है शहर में आने के बाद। गांव में बिना चप्पल ही नंगे पांव खेतों और उसकी पगडंडियों पर दौड़ लगा आती थी। ये सोचने और विचारने का समय नहीं धैर्य और हौसला से काम लेने का है। मैं चप्पल साइड में निकालकर आगे बढ़ने लगी। ये सोचकर कि वापिस लौटी तो नये फीते खरीदकर लगा दूंगी। घर में पहनने लायक तो है ही। अभी तो नया ही है। यही हुए होंगे दो तीन महीने खरीदे हुए। दो-तीन महीने में क्या चप्पल भी भला टूटती है लेकिन दबाव और ऐंठन के कारण दम निकल गयी बेचारे की। छोड़ो वापिस आने पर सोचेंगे क्या करना है इसका। सूरज की रोशनी ठीक मेरी ऑखों पर लगती तो आँखें चौंधिया जाती। मैं अपनी ऑखों पर हथेली की छतरी ओढ़ाए आगे-आगे कदम बढ़ाए जाती। गर्मी की शाम भी अजीब बेचैनी और अकुलाहट से भरी हुई होती है; शीतलता देर रात तक दुल्हन की भांति धीरे-धीरे दउरा में डेग धरे आती है तो थोड़ी राहत मिलती है। मैं अपनी ओढ़नी के कोर से बार-बार चेहरे की बेचैनी पोछती लेकिन बेचैनी चेहरे पर उतनी ही तेज़ी से मटमैली होकर बहने लगती। क्या करूं अब? ऐसा क्यों और क्या हो जाता है दिमाग को, कि सही से काम भी नहीं कर पाता विपत्ति के समय में।

पच्चीस साल पहले क्या हुआ था मेरे साथ। याद करने में ही रूह कांपने लगी। हे भगवान! सब शुभ शुभ करना! रक्षा करना मेरी फूल-सी बच्ची का। किसी का कुछ नहीं बिगड़ा है मैंने। माता पिता जब अच्छे काम करते हैं; तो भगवान सुनते हैं और उसका फल उनके बच्चों को देते हैं; तो क्या बुरे कामों का दंड भी तो भगवान उनके बच्चों को देंगे। इसलिए मैं बुरे कामों को करने से बचती हूँ; हाँ यदि अनजाने में हो गई हो, तो क्षमा प्रार्थी हूँ, मेरे भगवान। हे! माता! हे! काली माता! सब ठीक रहा तो काली माता के मंदिर में एक चुनरी और सवा किलो लड्डू जरूर चढ़ाऊँगी। बस, मेरी बच्ची सुरक्षित वापिस आ जाय मेरे पास। तब तक काली मंदिर का घंटा बजा और मस्जिद में अज़ान सुनाई दिया। दीया-बाती का बेला हो गया था। पच्चीस साल पहले की बात है। जब मैं सात साल की थी। अब तो समय बहुत बदला गया है। होने को तो उस समय भी क्राइम होते ही थे, जिसे हमेशा न्यूज़ चैनलों और सी आई डी और क्राइम पेट्रोल जैसी सीरियल्स के माध्यम से हमें जानकारी मिलती रहती थी लेकिन फिर भी तादाद इतनी नहीं थी जितनी कि मोबाइल के माध्यम से फैल रही है खबरें। हालांकि मेरे समय की बात और थी कुछ लोग अच्छे भी थें जो मदद के लिए आगे आ ही जाते थें। उस दिन मैं स्कूल से लौट रही थी। अभी स्कूल के गेट के पास ही आई थी तबतक मैथ टीचर ने रोक लिया था ये कहकर कि तुम रुको, मैं तुम्हारा 'पेमेंट स्लिप' काटकर प्रिंसिपल सर से दिलवा देता हूँ। जाकर अपने पेरेंट्स को दे देना। तुम्हारे पेरेंट्स तो न ही पेरेंट टीचर मीटिंग में आते हैं और ना ही एनुअल फंक्शन में। मैं मैथ टीचर के साथ गई, और प्रिंसिपल

ऑफिस में लगी बेंच पर बैठ गई। सारे बच्चें एक-एक करके बारी-बारी से निकलते जा रहे थें और मैं उन्हें जाते हुए देखकर छटपटाने लगी। उन्हें जाते देख मेरी धड़कन और बेचैनी तेज़ होती जाती थी कि मैं घर अकेली कैसे जाऊँगी। अब तक तो मेरी सहेलियां भी चली गई होंगी। मेरे लिए मेरी सहेलियां रुकी होंगी लेकिन अगर मैं नहीं गई तो और कितनी देर इंतज़ार करेंगी भला। बाजार से होकर भी अकेली जाने में मुझे भय लगता है सोचकर ही चेहरे से पसीने छूटने लगे थे उस दिन। "ये लो पानी पी लो।" कांच के ग्लास में छलकता हुआ पानी, देते हुए उन्होंने कहा था। मैंने उनके हाथों, पानी लेकर गटक लिया और जूठा ग्लास उन्हें थमा दिया। बिना कुछ कहे ही ग्लास लेकर वे ऑफिस से बाहर चले गए। मैं इंतज़ार करने लगी मेरा नंबर कब आयेगा और प्रिंसिपल सर मेरा 'पेमेंट स्लिप' काटकर देंगे। सबके मम्मी- पापा आते हैं पेमेंट करने; बस मेरे पापा-मम्मी को छोड़कर। मेरी मम्मी और पापा को फुर्सत ही नहीं ऑफिस के कामों से। प्रिंसिपल ऑफिस में महात्मा गांधी, सुभाष चंद्र बोस, भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, भीमराव अम्बेडकर, भारत माता अपने एक हाथ में झंडा लिए और उनकी तस्वीर पर गेंदे की फूल की माला चढ़ी हुई थी। तस्वीरों से चारों तरफ की दिवारें सजी हुई थीं। एक कोने पर बड़ी सी घड़ी टंगी हुई थी। शीशे का टेबल और उसपर अन्यत्र बिखरे फाइल्स और 'एफोर साइज' की सैकड़ों पन्ने, जो पंखे की हवा से तादात्म्य बैठाकर बार-बार उड़ने लगते थे। तब प्रिंसिपल सर उन कागज़ातों को उठाकर टेबल पर शीशे की पत्थर यानी 'पेपर वेट' को रख देते। ताकि फिर से उड़ न सकें। ऑफिस की दो अलमारियों के अंदर अनगिनत फाइल्स और मोटी-मोटी किताबें और उसके ऊपर रखा आसमानी और हर रंग का ग्लोब। जिसपर समूचा विश्व समाये रहता। एक भारत का मानचित्र भी था जिस पर चींटियां रेंगती रही जब तक मैं बैठी रही। मेरी क्लास में अभी ग्लोब की पढ़ाई नहीं हुई थी; शायद आगे सिलेबस में हो तो जरूर पढ़ाया जाएगा। ओ तेरी की! मैं कैसे पढ़ूंगी? ग्लोब से तो बड़े क्लास के भैया-दीदी ही पढ़ते हैं। ग्लोब को छूने की दिली तमन्ना बार-बार मुझे उसे देखने पर विवश करती; छू तो नहीं सकती पर आंख भर देखने में क्या हर्ज है; सोचकर ही मन ही मन खुश हो गई। विकट स्थिति में खुद को बहलाने का सबसे अच्छा तरीका है कि कुछ सोचने लगो; दिमाग को खाली मत छोड़ो। हे भगवान! कब तक मुझे 'पेमेंट स्लिप' मिलेगा और कब तक घर जाऊँगी। मेरी मम्मी परेशान हो रही होगी मेरे लिए। "प्रिंसिपल सर, मेरा घर बहुत दूर है। बहुत दूर!" मैं धीरे से कही।

"बैठ जाओ अभी! देख रही हो न! अभी कितने लोग बैठें हैं।" उनके शब्दों से घायल होकर मैं वापिस आकर बेंच पर बैठ गई। मैं बार-बार घड़ी देखती। ये मिनट की सुई आगे क्यों नहीं बढ़ती। 'कार्टून' देखने बैठो तो मिनट की सुई के पैरों में मानो पंख लग जाते है। और अभी देखो जरा इसे, कितनी अलसाई हुई है, मानों ये भी सुस्ता रही है। हे भगवान! इस मिनट की सुई में कुछ ऐसा कर दो न कि ये दौड़ती रहे। मैंने भगवान के सामने बिना हाथ जोड़े ही मौन गुहार लगाई। पर हर समय भगवान भी किसी की नहीं सुनता है। "प्रिंसिपल सर मुझे घर जाना है। मेरी मम्मी मुझे बहुत डांटेगी अगर देरी हुई तो।"

“मैंने कहा न! बैठ जाओ अभी! मैं तुम्हे बुलाऊंगा!”

मैं आकर, फिर बैठ गई। तब तक मुझे ग्लास वाले भैया दिखे। जिन्होंने मुझे पानी पिलाया था। मैं ऑफिस से बाहर निकली और उनकी शर्ट की निचली कोर खींचने लगी। उन्होंने पूछा, “क्या कह रही हो, कहो न और ट्रे से एक ग्लास का पानी मेरी ओर बढ़ा दिया।” मैंने ग्लास के पानी लेने से इनकार कर दिया। मैंने इशारों में ही उन्हें घड़ी की सुई की ओर देखने को कहा। उन्होंने फिर पूछा, “क्या कहना चाहती हो? बोलो! नहीं बोलोगी तो कैसे जानूंगा?” मैंने बस इतना भर कहा, मम्मी डांटेगी! “नहीं डांटेगी मम्मी, मैं तुम्हे घर पहुंचा दूंगा।” उन्होंने इशारों से अपनी हाथ को ऊपर उठाकर अंगूठे और तर्जनी अंगुलियों को बाहर निकालते हुए होंठ के पास ले जाकर बंदूक का निशाना लगाते हुए कहा, स्माइल प्लीज़! मैंने स्माइल कर दी और मेरे साथ वे भी। ऑफिस में आकर मैं बेंच पर आश्वस्त होकर बैठ गई। सबके जाने के बाद प्रिंसिपल सर ने मुझे आवाज़ दिया। मैंने जाकर अपना ‘पेमेंट स्लिप’ ले लिया।

“खो तो नहीं दोगी न?” प्रिंसिपल सर पूछते हुए मेरी पीठ से बैग उतारकर टेबल पर रख दिए।

“तुम एक काम करो, एक बुक निकालो और बुक के अंदर इस पेमेंट स्लिप को छुपा कर रख लो। इसमें कुछ रुपए भी है”। शायद दो सौ के दो नोट भी थे। “किसी को बताना मत! सीधे मम्मी को ले जाकर दे देना। ठीक है न?” प्रिंसिपल सर के सवालों का जवाब में मैंने, ‘हाँ’ की मुद्रा में सिर हिला दिया। मैं आने लगी तो उन्होंने दुबारा बुलाया और एक ‘कैडबरी का एक चॉकलेट’ हाथ में पकड़ा कर मुट्ठी बंद कर दिया।

“अब तुम जाओ! चली जाओगी न अकेली?” मैंने ‘हाँ’ में हामी भर दी। मैं बाहर निकलकर पानी पिलाने वाले भैया को ढूंढने लगी। पार्क में, नर्सरी से लेकर टेंथ क्लास तक। वो कहीं नहीं मिले। क्लास रूम में ढूंढने के बीच ब्लॉक बोर्ड के पास ढेर सारे टूटे हुए चॉक और उसका चूर्ण गिरा था। टूटे हुए चॉक को चुनकर अपने बैग में रख लिया मैंने। सीढ़ियों से जाने वाले बॉथरूम में भी जाकर देखा। मगर वे कहीं नहीं मिले। मैं निराशा से कदम बढ़ाए जा रही थी। प्रिंसिपल सर भी ऑफिस बंद करके अपनी चमचमाती कार में बैठकर चले गए। गार्ड दरवाजा बंद करने वाल था कि उसने मुझे देखा और चिल्लाया, “तुम भी घर जाओ, मुझे भी गेट बन्द करके घर जाना है।”

मेरी नज़र दौड़ी और दिखा कि स्कूल के फील्ड में एकदम सन्नाटा सा छाया हुआ है, और सागवान और शीशम के पेड़ों की परछाईंयां मुझे जोर-जोर से झकझोर रही है। जंबो स्लाइड, डबल स्विंग, रोटो ज़िगज़ैग स्लाइड सब उदास, अपनी अकेलेपन की पीड़ा से ऊबने की प्रक्रिया में थे या एकांतवास में ऐश कर रहे थे। कुछ समझती उससे पहले गेंदे, गुलाब और अड़हुल की कुछ पंखुड़ियाँ, चॉकलेट, बिस्किट और आइसक्रीम की पैकेट दिखी, जो किताबों के पन्ने, नोट्स के टुकड़े और पेंसिल के छिलकों से मिलकर हवा में उड़कर; अपनी बातचीत से सन्नाटा दूर करने की कोशिश में लगे थें। मैं पार्क से, उन्हें ढूंढते हुए

निकल आयी स्कूल के बाहर। शाम हो गई थी मुझे घर जाने की कितनी जल्दी मची थी सूरज देवता को भी नहीं मालूम था। वे अपना राग अलापते संध्या से मिलने की बेकरारी लिए आगे बढ़ रहे थे। स्कूल के सारे बच्चें जा चुके थे और मैं अकेली, नितांत अकेली। मुझे तो सड़क भी पार करने नहीं आता। दायें और बायें में पहचान करना हो तो मैं अपनी नाक की कील को छूती और उसी साइड हो लेती। बड़ी दीदी ने बताया था कि जब भी तुम्हें दायें और बायें का फर्क करने में दिक्कत हो तुम अपनी नाक की किल वाली साइड में चलना। वो साइड तुम्हारा बायीँ साइड होगा। मैंने फुटपाथ पर चलना शुरू किया। सड़कों पर बस, मोटर साइकिल और कार चलती रहीं और फुटपाथ पर मैं अकेली। मैं बार-बार पीछे मुड़-मुड़कर देखती जाने क्यों लगता कि कोई पीछा कर रहा है लेकिन पीछे देखने पर फुटपाथ पर इक्का दुक्का लोग जो अपनी मस्ती में चल रहे थे। डर, इंसान को चौकन्ना बना देता है और सतर्कता का पाठ भी पढ़ा देता है। आगे बढ़ी तो सब्जियों और फलों की दुकानों पर भीड़ का जमावड़ा। मुझे राहत मिली और याद आया कि चार दिन बाद ईद है और ये भीड़ रमज़ान की है। मैंने पीठ से स्कूल बैग को उचकाया। ओह! मन करता है बैग से दो- चार किताबें निकाल कर नाली में फेंक दूँ। मुझसे भारी तो मेरा स्कूल बैग है। लेकिन कैसे फेंक सकती हूँ? सरस्वती माँ नाराज़ हो गई तो? अगले साल फिर फेल हो जाऊँगी तो। सरस्वती माँ ही फेल या पास करवाती हैं बच्चो को। मुझे फेल होने से बुरा कुछ नहीं लगता। मेरी सारी सहेलियाँ आगे की क्लास में चली जायेंगी बचूंगी सिर्फ मैं अकेली। वे मुझसे बात भी नहीं करेंगी फिर मुझे क्लास में भी अकेली बैठना होगा। उनके बिना अकेली कैसे रह पाऊँगी मैं। मुझे उनके बगैर नहीं रहना। मैंने बैग को पीठ से उतारा और पानी का बॉटल निकालकर उसका सारा पानी पास की बहती गंदी नाली में गिरा दिया। अब भार कुछ कम हुआ लेकिन इतना भी नहीं जिससे मैं तेज़ दौड़ सकती। मैं मन- मसोसकर चलने लगी। कपड़े की दुकानों में कितनी भीड़ है आज। और तो और गहनों की दुकानों में भी। मम्मी से मैंने पिछले साल ही कहा था, मेरे लिए एक पायल ला दो, लेकिन नहीं। नहीं लाई मम्मी! अबकी बार दुकान में आयी तो बिना लिए जाऊँगी ही नहीं। मम्मी खींचकर ले जायेगी तब भी नहीं। वही बैठकर रोने लगूंगी। फिर क्या करेगी मम्मी? मामा की शादी में सबने पायल पहना था, सिवाय मेरे। एक से बढ़कर एक रंग बिरंगे फ्रॉक, अमेरिकन रुमाल, टेडी बियर और चांद सितारों की प्रिंट वालें सलवार-कमीज, 'मीना- बाज़ार' के चौराहे पर टंगी थी। जयपुरी चप्पलें, जूतियां और अमेरिकन डायमंड लगे सैंडल्स और मधुबनी पेटिंग से बने पर्स, क्लिच और हैंड मेड बनी चूड़ियाँ, जिसे खरीदने के लिए गाहकों का झुंड हमेशा ही लगा रहता है यहाँ। अबकी मेरे जूते फटेंगे तो यही से लूंगी। पर फटे जूते सिलवाये भी तो जा सकते है न! आखिर मोची किस काम के लिए बैठता है इतनी तेज़ धूप में और किस काम के पैसे लेता है। किराने की दुकानें, गुमटी और ठेले वालें सब अपने-अपने कामों में व्यस्त। पंखा चल रहा था लेकिन फिर भी पसीने से तीतर बितर दुकानदार, माथे से बहते पसीने को कोहनी फिराकर पोंछ लेते और हाथ में सनी पसीने को छिटक कर बाहर फेंक देते। पसीना तो मुझे भी आ रहा था डर की वजह से। मैं तेज चलने लगी। जिसका डर सता रहा था, वो आगे दिखाई दिया। मुझे 'पगला' की गुदड़ी

दिखाई दी। लेकिन 'पगला' किधर गया? पगला की गुदड़ी, बोरा, स्टील का लोटा, फटी-गंदी शॉल, टेढ़ी लाठी, थरीया में पानी और भात, जिसमें असंख्य मक्खियां भिनभिना रही थी। मुझे देखकर ही घिन्न आया। मैं पहले से भी तेज़ चलने लगी। कैसे भी करके इस 'पगले' को पार कर जाऊँ। वरना पगला अपनी बोरी में कस लेगा। बड़ी दीदी बताती है कि वो बच्चों को पकड़कर अपनी बोरी में डाल कर कहीं दूर ले जाकर बेच आता है।

"फिर उसके पैसे कौन लेता है दीदी?" मैं हमेशा पूछती। "सारे पैसे अपनी तकिया में छिपा देता है।"

"अच्छा फिर तो ये पगला अपने लिए एक अच्छा कपड़ा और जूता क्यों नहीं खरीदता? हमेशा ही फटी गंजी और गंदी लूंगी लपेटे रहता है। बाल भी गंदे रहते हैं इसके। बाल भी नहीं कटवाता जबकि सैलून पास में ही है।"

दीदी, "पगला हमेशा फुटपाथ पर क्यों सोता है ? इसके मम्मी पापा कहाँ रहते हैं? क्या वो भी पागल ही है?"

"हाँ, वो रांची पागलखाने में भर्ती हैं! ये पगला भी वहीं भर्ती था, लेकिन वहाँ एक पुलिस को मारकर, अपनी जान छुड़ाकर, खिड़की से कूदकर भाग आया।"

बड़ी दीदी बताती और मैं बहुत ध्यान से सुनती।

दीदी, "किसी दिन हमें पकड़कर बेच आया तो? मम्मी बहुत रोयेगी न!" मैं हमेशा पूछती रहती।

"हमें कुछ नहीं होगा।" दीदी मुझे अपनी ओर खींचते हुए कहती और मेरा कंधा पकड़ लेती और मैं खुद को कितना सुरक्षित महसूस करती दीदी की अंगुली पकड़कर और उससे चिपककर। मैं सोचते हुए आगे बढ़ रही थी।

जैसे ही मैं नाला पार करने के लिए ऊपर से फ़लांग लगाती 'पगला' पीछे से आकर मेरा गला दबोच लिया। मैंने किकियाना शुरू किया लेकिन किसी ने सुनी नहीं। उसने मेरी मुट्ठी खोलने की चेष्टा तो की लेकिन मेरी मुट्ठी खोल नहीं पाया। उसने जबरदस्ती मेरी मुट्ठी खोलने का प्रयास किया मेरी मुट्ठी खुलने ही वाली थी तब तक मैंने अपनी आगे के चारों दांतों के निशान उसकी हथेली पर उगा दिया। वो ज़ोर से कराहा और मेरे गालों पर ज़ोर का एक चांटा। कहाँ भागती है साली! उसने एक बार फिर मेरी गर्दन को पकड़ा, टाई के फीते जोर से बंध गए जिससे मुझे चिल्लाने में दिक्कत होने लगी। मैं चिल्लाने लगी लेकिन आवाज तेज़ नहीं हो पाई। सब्जियाँ खरीदकर लौटते हुए लोग देखकर घटना स्थल पर आए और अपनी झोला को कसकर पकड़े, खड़े होकर देखने लगे। दर्जी, नाई, गुपचुप वाला, भजा वाला, आइसक्रीम वाला, सब्जी वाला सब के सब इकट्ठे हो गए थोड़ी देर में मदारी का खेल देखने। एक ने साईकिल रोककर, 'पान की पीत' पास की बहती गंदी नाली में थूकते हुए, रुक कर पूछा, "कैसी भीड़

है?" लेकिन साईकिल से उतरकर उस सज्जन ने आगे आने की जहमत न उठाई। पगला मेरी मुट्ठी खोलने की कोशिश करता रहा लेकिन मेरी मुट्ठी जोर से बंद थी। मैंने अपनी पूरी काबू अपनी मुट्ठी पर जमा दी थी दम भर चिल्लाती जा रही थी। जब-जब चिल्लाती, ऊर्जा बंटने के कारण मेरी मुट्ठी ढीली पड़ने लगती तो मैं चुप हो जाती। पगला जितनी जोर से मेरी मुट्ठी खोलने की कोशिश करता; मैं उतना ही ज़ोर से चिल्लाने की कोशिश करती। आई…मम्मी! मुझे बचा लो…। उसने मुझे सड़क पर ढकेल दिया, मैं नाली में गिरते-गिरते बची। मेरे दोनों घुटने और कोहनी छिल गए और ख़ून रिसने लगा। घुटने और कोहनी का खून मैंने अपनी व्हाइट शर्ट की बाजू से पोंछ दिया। नील लगे शर्ट पर खून का दाग, भद्दी चित्ती सी शर्ट पर दिखने लगी, जिसपर मक्खियाँ मंडराने लगी थोड़ी ही देर में। कोहनी को सड़क पर टीकाकर, मैंने उठने की कोशिश की। तबतक लड़खड़ा कर फिर गिरी, मुझे लगा शायद मेरे घुटने में जोर की चोट आई है। पैर की बाएं अंगूठे में दर्द हुआ तो जूते खोलकर देखी, नाखून टूट गया था, जिसके कारण ही ये असहनीय दर्द मुझे होने लगा था। आई मम्मी…! मम्मी…! मुझे बचा लो…मम्मी…! मैं जब भी मुसीबत में होती मेरे मुंह से 'आई मम्मी' शब्द गुहार के रूप में निकलता है। आस-पास की दुकानों में जब मेरी आवाज़ गई तो मदद के लिए कई दुकानदार और ग्राहक बाहर निकल आए। भीड़ देखकर, पगला भाग खड़ा हुआ। अब मैं हर तरह से सुरक्षित थी। एक पल को एकदम आश्वस्त कि मैं बच जाऊँगी जिसकी उम्मीद मुझे थोड़ी देर पहले तक नहीं थी। एक अंकल जी आगे आकर पूछे, "क्या हुआ था बाबू…क्यों मार रहा था तुम्हें, वो पगला?" मैं डरी हुई थी और जोर-जोर से हाँफ भी रही थी। मेरे दोनों पैर घहराने लगे थे। भीड़ से निकलते एक बूढ़े व्यक्ति ने किसी से बताया कि ये पगला, ऐसे ही किसी छोटे बच्चे को देखता है तो दबोचने और परेशान करने के उद्देश्य से आकर रास्ता रोक लेता है। सड़क पर एक गोलाई में भीड़ और केंद्र बिंदु पर मैं। एक आंटी मेरी स्कर्ट पर लगी मिट्टी को झाड़ दी और बोली, "तुम्हारा घर किधर है? अकेली चली जाओगी? जोर की चोट लगी है तुम्हे?"

मैंने सिर हिलाकर, 'हाँ' में हामी भर दी। भागो सब यहाँ से, हवा लगने दो बच्ची को। बेचारी को अकेली पाकर, पगला गर्दन ममोड़ दिया है, जोर से। उसे जोर की चोट भी आई है। भीड़ में एक कहानी चलने लगी मदारी का खेल देखने के बाद, जिसे अनसुना और अनदेखा कर; मैंने अपनी मुट्ठी खोली, मुट्ठी देखकर मुझे तसल्ली हुई। फिर मुट्ठी बंद कर लिया और विजयोल्लास से चल पड़ी घर की ओर। मम्मी डांटेगी तो मुट्ठी में बंद 'ट्रॉफी' को उसकी हथेली में रखकर बंद कर दूंगी। मम्मी की नाराज़गी झट से दूर हो जायेगी। सोचकर जल्दी- जल्दी घर पहुंची। उस दिन तो कुछ भी हो सकता था। होने को तो कभी भी अनहोनी हो सकती है। आखिर कहाँ ढूंढने जाऊँ उसे और कब तक ढूंढूं? आकाश हल्के आसमानी से गाढ़े बैंगनी रंग में घुलने लगा था। मैं फिर आगे बढ़ने लगी… कहाँ होगी? किस हाल में होगी? तमाम प्रश्न मुझे निस्सहाय कर रहा था। संध्या रानी भी सूरज की बाहों में सिमट चुकी थीं। सब अपनी-अपनी दुकानें समेट रहे थे। सब्जी वाले, चाट वाले, गुपचुप वाले, बैलूंस वाले, बांसुरी वाले भी अपनी बांसुरी

बजाते हुए घर की ओर लौट रहे थें। कुछ अधेड़ महिलायें और पुरुष झोला भर सब्जियाँ खरीदकर घर की ओर चले जा रहे थें। आवारा कुत्ते भी बीच सड़क पर लेटने की प्रक्रिया में भागे आ रहे थे। बाज़ार की एक तिहाई भीड़ खत्म हो चुकी थी लेकिन मैं निरुद्देशय सड़कों पर बेतहाशा आगे बढ़ रही थी। तब-तक पीछे से आवाज़ आई! मम्मी...मम्मी... मैंने पीछे पलटकर देखा! अरे…! अपराजिता...! वो दौड़ते हुए, मेरे पास आई और स्कूल बैग निकाल कर सड़क पर फेंक दी। "मम्मी, मैं अपनी सहेली के घर चली गई थी, उसके बर्थडे पर।" कहते हुए झट से, मेरी बजर देह और गले को उसकी कोमल लताओं ने लिपट लिया कसकर और उससे भी ज्यादा कसकर मैंने उन लताओं को। दो देह एक प्राण। मेरी ऑंखों से स्नेह की पंखुड़ियाँ झड़-झड़कर, अपराजिता को सींच रही थी।

लेखिका- स्वाति बरनबाल,

पश्चिमी चम्पारन, बिहार,

मैल- barnawalswati6@gmail.com

(संस्मरण)

कोटाः अतुल्य भारत का अद्भुत शहर

अजीत डिडेल

कक्षा ग्यारहवीं के बाद मैं आईआईटी की प्रवेश परीक्षा की तैयारी करने के लिए देश की कोचिंग इंडस्ट्री कोटा चला गया। देश-भर के विद्यार्थी यहाँ मेडिकल और इंजीनियरिंग की तैयारी करने के लिए आते हैं, जिससे यह शहर मिनी इंडिया लगता है। खैर आईआईटी में मुझे प्रवेश नहीं मिला किंतु इस शहर ने मुझे अपने देश की संस्कृति को जानने और उसे जीने का मौका जरूर दिया ।

जीवन में पहली बार मैंने लोहड़ी के त्योहार को यहीं मनाया था; छठ पूजा का नाम भी मैंने पहली बार इसी शहर में आकर सुना था और उत्तर प्रदेश व बिहार के विद्यार्थियों के इस उत्सव के प्रति विशेष उत्साह को भी महसूस किया। दूसरे राज्यों से आने वाले दोस्तों को मैं अपने रंगीले राजस्थान से परिचित करवाता और वे जुझे अपने राज्य से। बिहार के दोस्तों ने मुझे लिट्टी चोखा खिलाया, मैंने उन्हें दाल-बाटी-चूरमा।

मेरा एक सहपाठी, जो उड़ीसा से था, उसने एक दिन मुझसे यह शिकायत की- मैंने तो सुना था कि राजस्थान में रेगिस्तान होता है लेकिन यहाँ तो रेगिस्तान का नाम तक नहीं है, उल्टा यहाँ तो चम्बल नदी भी बहती है। मैंने उससे कहा, जनाब आप अभी राजस्थान के जिस इलाके में हैं वह हाड़ौती के पठार का हिस्सा है। आप ने राजस्थान को फिल्मों में ही देखा है और सिनेमा में अधिकतर पश्चिमी राजस्थान को ही दिखाया जाता है जहाँ रेत के धोरे हैं, रेगिस्तान है। रेगिस्तान देखने के लिए तो आपको जैसलमेर, बाड़मेर और बीकानेर जाना पड़ेगा।

आईआईटी की प्रवेश परीक्षा संपन्न होने के बाद मेरे अधिकतर सहपाठी अपने घर चले गए थे लेकिन मैं कोटा में ही रुका रहा। परीक्षा खत्म होने के कारण मुझे शहर भ्रमण के लिए समय मिल गया और मैं कोटा के पर्यटन स्थलों को देखने के लिए निकल पड़ा। शहर के आसपास के लोकप्रिय पर्यटक स्थलों - चम्बल गार्डन, सेवन वंडर्स पार्क, किशोर सागर झील, जग मंदिर, खड़े गणेश जी मंदिर और महाराव माधोसिंह संग्रहालय का मैंने भ्रमण किया। इस

दौरान कोटा ने मुझे मेरे अतुल्य भारत से परिचित करवाया। देश की समृद्ध संस्कृति की झलक कोटा के इन पर्यटन स्थलों में देखी जा सकती है।

मैंने अपनी पर्यटन यात्रा का श्रीगणेश खड़े गणेश जी मंदिर जाने के साथ किया। इस स्थान को प्रसिद्ध बनाने वाली बात यह है कि इस प्रकार का मंदिर जहां गणेश जी खड़े हैं, भारत में कहीं और नहीं है। मंदिर में स्थापित मूर्ति लगभग 600 साल से भी अधिक पुरानी है।

इसके बाद मैं चम्बल गार्डन गया। चंबल नदी के तट पर स्थित, चंबल गार्डन भारतीय शहर कोटा में सबसे खूबसूरत पिकनिक स्पॉट में से एक है। कोटा में चंबल गार्डन का प्रमुख आकर्षण हरियाली के बीच में स्थित अद्भुत तालाब है। इस कीचड़ भरे तालाब को बहुत ही कम ऊंचाई पर लटके हुए अस्थिर पुल से पार किया जा सकता है। इस दलदली तालाब में कई घड़ियाल भी पाए जाते हैं। प्रकृति प्रेमी हजारों पौधों की प्रजातियों का अध्ययन करने में भी दिन बिता सकते हैं जो इस स्थान पर मौजूद हैं। कुछ पौधे ऐसे हैं जो इस क्षेत्र के विशिष्ट हैं और वनस्पति विज्ञान के छात्रों और शोधकर्ताओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

अगली शाम मैं सेवन वंडर्स गार्डन घूमने गया। किशोर सागर के किनारे स्थित गार्डन में दुनिया के सात अजूबे एक साथ खड़े हैं। इस पार्क की एक बार की यात्रा आपको एक ही स्थान पर दुनिया के सात अजूबों (ताजमहल, गीज़ा का महान पिरामिड, ब्राजील का क्राइस्ट द रिडीमर, पेरिस का एफिल टावर, पीसा की झुकी मीनार, न्यूयॉर्क की स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी और रोम की कालीज़ीयम) की झलक देगी। कोटा का यह गार्डन दुनिया का आठवां अजूबा प्रतीत होता है। कोटा का यह स्थान अतुल्य भारत की छवि को हमारे मन-मस्तिष्क में उभार देता है।

रात के समय दूधिया रोशनी में किशोर सागर के मध्य स्थित जग मंदिर का दृश्य मन को मोह लेता है। पानी के मध्य में स्थित जगमंदिर समृद्ध एवं उन्नत भारतीय स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है जो जयपुर के जल-महल और गागरोन (झालावाड़) के जल दुर्ग की याद दिलाता है। कोटा महाराव दुर्जनशाल सिंह जी की महारानी तथा उदयपुर की राजकुमारी ब्रज कंवर जी के

द्वारा इस कृत्रिम जलाशय किशोर सागर तथा जगमंदिर का निर्माण सन् 1743-45 के मध्य करवाया गया था। यहां पर पर्यटकों हेतु बोटिंग की सुविधा उपलब्ध है। साँयकाल के समय यहाँ लेजर फिल्म एंड साउंड शो का आयोजन किया जाता है। यह स्थान कोटा का प्रमुख पर्यटन स्थल है।

अगली सुबह मैं महाराव माधोसिंह संग्रहालय देखने गया, यह निश्चित रूप से राजस्थान राज्य के सर्वश्रेष्ठ संग्रहालयों में से एक है। देश की समृद्ध सांस्कृतिक और स्थापत्य विरासत को संरक्षित करने के लिए कई महलों को संग्रहालयों में बदल दिया गया है। महाराव माधो सिंह संग्रहालय पुराने भव्य महल में स्थित है। उत्कृष्ट मूर्तियां और भित्ति चित्र मनमोहक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। संग्रहालय के मुख्य आकर्षणों में से एक 'कोटा स्कूल ऑफ आर्ट' से संबंधित राजपूत लघु चित्रों का विशाल संग्रह है। संग्रहालय का शस्त्रागार कई प्रकार के हथियारों जैसे तलवार, चाकू, धनुष, तीर, पिस्तौल और राइफल आदि के साथ अद्भुत है।

शहर भ्रमण के बाद लगता है कि कोटा अतुल्य भारत का एक अद्भुत शहर है। कोटा हमें देश के समृद्ध ज्योतिष विज्ञान से भी परिचित करवाता है। गढ़ पैलेस स्थित ऐतिहासिक जंतर बुर्ज पर स्थित वायु धारणा परीक्षण यंत्र पर ध्वज पताका लगाकर विधि-विधान के साथ निर्धारित समय पर हवा के बहने की स्थिति के आधार पर बारिश का पूर्वानुमान लगाया जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि मौसम विभाग का पूर्वानुमान और वायु परीक्षण का पूर्वानुमान दोनों ही समान नतीजे देते हैं।

राजस्थान राज्य अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और परंपराओं के लिए जाना जाता है। कोटा इसका एक हिस्सा होने के नाते किसी भी तरह से अलग नहीं है और रीति-रिवाजों एवं परंपराओं का एक जीवंत रूप पेश करता है। कोटा का दशहरा मेला इसका उदाहरण है। इस मेले में अपने राज्य के विश्वविख्यात लंगा और माँगणियार परम्परा के लोक गायकों को सुनकर मुझे अपने देश और राज्य की समृद्ध संगीत परम्परा से परिचित होने का मौका मिला।

भारत के अतुल्य राज्य राजस्थान का यह अद्भुत शहर देश के गौरवशाली इतिहास, मनमोहक पर्यटक स्थलों एवं इसकी समृद्ध कलाओं से हमें रूबरू करवाता है।

अजीत डिडेल, शोधार्थी, जे एन यू।

(पुस्तक समीक्षा)

संस्कार:भारतीय समाज की रूढ़िगत परंपराओं और सांस्कृतिक संघर्ष का आख्यान

उद्देश्य सिंह

'संस्कार' डॉ. उडुपी राजगोपालाचार्य अनंतमूर्ति (यू० आर०अनंतमूर्ति) द्वारा रचित उपन्यास है। 'संस्कार मूल रूप से कन्नड़ भाषा में रचित है। हिन्दी में इसका अनुवाद 'चन्द्रकांता कुसनूर' ने किया। यह उपन्यास सन् 1965 में कन्नड़ में प्रकाशित हुआ। जो एक युगान्तकारी उपन्यास के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। 'संस्कार' में यथार्थ ब्यौरों से भरी हुई दक्षिण भारत के ब्राह्मण हास की प्रतीकात्मक कथा है। 1970 में 'संस्कार' नाम से ही इस उपन्यास पर फिल्म भी बन चुकी है।

'संस्कार' में यू. आर. अनन्तमूर्ति ने धर्म और शास्त्र आधारित विधि-विधान, इन विधानों की उपयोगिता और अनुपयोगिता, सामाजिक संरचना के रूप में धर्म और शास्त्र तथा उसके संचालन में धर्म और शास्त्र की भूमिका तथा रूढ़ि, जड़ परम्पराएँ, अंधविश्वास, पाखंड, कर्मकांड आधारित शोषण इत्यादि का बड़े ही रोचक और तार्किक ढंग से विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त वर्जनाओं का, मनोविज्ञान, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और समाज की नैतिकता और अनैतिकता का सवाल भी उपन्यास में उद्घाटित किया है।

अनंतमूर्ति का लेखन परस्पर समझी जाने वाले परम्परागत एवं आधुनिकता के अंतःसंबंधों की व्याख्या करना है। अपने उपन्यास 'संस्कार' में उन्होंने भारतीय समाज और खासकर स्वातंत्र्योतर युग की भारतीयता में आने वाले तनाव का बेहद संवेदनशील चित्रण किया है।'संस्कार' में लेखक ने ब्राह्मणवाद, अंधविश्वास और रूढ़िगत संस्कारों पर इतनी पैनी चोट की है कि सनातन मान्यताओं के समर्थकों के लिए उसे सह पाना कहीं-कहीं मुश्किल हो जाता है । अंग्रेजी के अध्यापक और कन्नड़ के लेखक होने की वजह से ही उनकी रचनाओं में ग्रामीण परिवेश देखने को मिलता है। साथ ही साथ वैज्ञानिक आधार से उनकी रचनाएँ संबृद्ध हो पायी है।

अनंतमूर्ति अपने लेखन में सामाजिक वर्जनाओं, कुरीतियोंऔर विभिन्न धर्माडम्बरी तथा समाज में व्याप्त अंधविश्वास पर इतनी कटु चोट की है कि इस समाज में व्याप्त धर्माडम्बरों और अंधविश्वासों को जन्म देने वाले और उसके समर्थक उनके 'सत्यों और तर्कों से भरे विचारों को पढ़कर तिलमिला उठते है। जिसका 'संस्कार' उपन्यास के रूप में एक जीवन्त उदाहरण हमारे समक्ष पेश है। अनंतमूर्ति ने संस्कार उपन्यास में इन्हीं वर्जनाओं को आधार बनाया है और उनका तार्किक खंडन किया है।

'संस्कार' उपन्यास में धर्म और शास्त्र आधारित मूल्यों का विवेचन अनंतमूर्ति ने साहसिकता से किया है। 'संस्कार' शब्द से अभिप्राय केवल ब्राह्मणवाद की रूढ़ियों से विद्रोह करने वाले नारणप्पा के दाह संस्कार से ही नहीं है। अपने लिए सुरक्षित निवास स्थान, अग्रहार, आदि के ब्राह्मणों के विभिन्न संस्कारों पर भी रोशनी डाली गई है। स्वर्णाभूषणों और सम्पत्ति लोलुपता जैसे संस्कारों पर भी ब्राह्मण श्रेष्ठ गुरु प्राणेशाचार्य की तथा चन्द्री, बेल्ली और पद्मावती जैसे अलग और विपरीत दिखायी देनेवाले पात्रों की आभ्यंतरिक उथल-पुथल के सारे संस्कार अपने असली और खरे खोटेपन समेत हमारे सामने उघड़ आते हैं।

- धर्म क्या है? धर्म-शास्त्र क्या है? क्या इनमें निहित आदेशों में मनुष्य की स्वतंत्रता सत्ता के हरण की सामर्थ्य है, या होनी चाहिए? ऐसे अनेक सवालों पर यू. आर. अनंतमूर्ति जैसे सामर्थ्यशील लेखक ने अत्यन्त साहसिकता से विचार किया है, और लेखक की यही वैचारिक निष्ठा इस उपन्यास को विशिष्ट बनाती है।

'संस्कार' में व्यापक रूप में सांस्कृतिक संघर्ष देखने को मिलता है। सांस्कृतिक संघर्ष उसे कहते है जब दो सांस्कृतिक विचारधारा या उससे ज्यादा विचारधाराएँ आपस में टकराती है। "संस्कार" में हमें तीनों भागों में सांस्कृतिक संघर्ष दिखायी देता है। पहले भाग में दुर्वासापुर के समस्त ब्राह्मण और मरे हुए नारणप्पा के बीच तो दूसरे भाग में ब्राह्मण श्रेष्ठ प्राणेशाचार्य के चंद्री के साथ शारीरिक मिलन के उपरान्त उनके दिमाग में होने वाली सांस्कृतिक संघर्ष जिसके केन्द्र में नारणप्पा ही था और तीसरे भाग में प्राणेशाचार्य के मन में और उन्हें रास्ते में मिले हुए साथी पुट्ट की सांस्कृतिक विचारधारा के साथ। इस प्रकार से देखा जाए तो 'संस्कार' उपन्यास मुख्यतः एक सांस्कृतिक संघर्ष का उपन्यास है।

" संस्कार' उपन्यास का आरम्भ इन पंक्तियों से होता है–'भागीरथी की सूखी-सिकुड़ी देह को नहलाकर उन्होंने कपड़े पहना दिये।' भागीरथी कौन? क्या गंगा? जिसका अवतरण पृथ्वी पर मोक्ष देने के लिए हुआ था, जो सबको धो कर नहलाकर मोक्ष देती रही है? किन्तु यहाँ जो भागीरथी हैं। जो सूख, चुकी है, सिकुड चुकी है, रुग्ण है जिसे अब दूसरे नहला रहे हैं यह और कोई नहीं बल्कि वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य की धर्मपत्नी है जिसे नारणप्पा सूखी, सिकुड़ी, रुग्ण देह मात्र कहता है जो प्राणेशाचार्य की तपञ्चयी और ब्रह्मचर्य की खराद पर चढ़ने वाली वस्तु मात्र हैं।

'इस उपन्यास का आरम्भ ही धर्म और शास्त्र तथा सांस्कृतिक संघर्ष के साथ होता है। नारणप्पा की मृत्यु उपन्यास के आरम्भ में हो जाती है उस समय प्राणेशाचार्य गौ-ग्रास लेकर 'गौरी' नाम की गाय के समक्ष रखा ही था कि चन्द्री वहाँ जा पहुची जिसे देखते ही प्राणेशाचार्य कुछ ठिठक से गये। उसने अपने पति नारणप्पा की मृत्यु की सूचना प्राणेशाचार्य को दी। यहाँ पर हम उपन्यास की कुछ पक्तियों के माध्यम से धर्म और शास्त्र की उपयोगिता और अनुपयोगिता पर विचार कर सकेंगे–"भोजन के पहले केले के पत्ते

पर गौ ग्रास लेकर पिछवाड़े चरने वाली गौरी नाम की गाय के सामने रखा और गाय के रोमांचित शरीर पर हाथ फेरकर आँखों से लगाते हुए भीतर आ ही रहे थे कि किसी स्त्री की आवाज सुनायी दी, "आचार्यजी, आचार्यजी" सुनते ही पहचान गये कि यह नारणप्पा की रखैल 'चन्द्री' की आवाज है। उससे बात करने पर फिर से स्नान करना पड़ेगा और फिर भोजन हो सकेगा।"[1]

इन पक्तियों से हम समझ सकते है कि यह किस धर्मशास्त्र का न्याय है कि किसी स्त्री से बात करने पर फिर स्नान करना पड़े। भले ही स्त्री किसी जाति की हो मनुष्य तो मनुष्य ही है। इस प्रकार के धर्म और शास्त्र के विधि विधानों की क्या उपयोगिता है ? मेरे समझ से तो यह परे हैं । इस प्रकार की बातों को समाज में व्यर्थ ही बढ़ावा दिया जाता है हालांकि इस समय के आधुनिक समाज में तो कुछ कम हो गया है। मेरे समझ में यह केवल एक धर्माडम्बर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उपन्यास के आरम्भ में नारणप्पा के मृत्यु के कारण ही दुर्वासापुर में धर्म और शास्त्र, नीति अनीति को लेकर एक प्रकार से सांस्कृतिक संघर्ष शुरू हो जाता है वह अंत तक जब तक प्राणेशाचार्य अपने गाँव वापस नहीं लौट आते है तब तक बराबर चलता रहता है। नारणप्पा के मृत्यु से ही समस्त दुर्वासापुर के ब्राह्मणों जिनका प्रतिनिधित्व प्राणेशाचार्य करते है और नारणप्पा के मृत्युके कारण सांस्कृतिक संघर्ष शुरू हो जाता है। नारणप्पा ब्राह्मण था जो कि शिवमोग्या गाँव से ज्वर लेकर आता है, चार दिनों तक ज्वर रहने के उपरान्त, उसका प्राणांत हो जाता है। उसकी पत्नी 'चद्री' प्राणेशाचार्य के पास आकर इसकी खबर देती है और फिर समूचे दुर्वासापुर तथा पास के ही गाँव परिजातपुर तक यह खबर फैल जाती है। समूचे अग्रहार के ब्राह्मण प्राणेशाचार्य के चबूतरे पर जमा होते है । वहाँ पर समस्या यह उठती है कि नारणप्पा के शव का दाह संस्कार कौन करेगा? प्राणेशाचार्य कहते हैं कि –"कोई रिश्तेदार न हो तो और कोई ब्राह्मण यह कार्य कर सकता हैं- ऐसी बात धर्मशास्त्र में है।"[2] परन्तु कोई ब्राह्मण उसके शव-संस्कार के लिए तैयार नहीं होता है।

डॉ. विनोद कुमार तिवारी जी लिखते हैं-"यू. आर. अनंतमूर्ति की समूची रचनात्मक-प्रक्रिया धर्म, जाति, लिंग, भाषा आदि के आधार पर बनायी गयी सामाजिक रूढ़ियों और असमानताओं के विरुद्ध एक विद्रोही, मानवतावादी लेखक की रचनात्मक प्रक्रिया मिली है । वे अपने लोहियावादी लोकतांत्रिक समाजवादी विचारों, मानवतावादी -सिद्धातों, वास्तविक व तार्किक सांस्कृतिक मूल्यों पर अडिग रहने वाले एक ऐसे बेबाक और मुखर छवि वाले रचनाकार थे जिनकी आवाज़ में कभी भी हकलाहट नहीं सुनायी पड़ी। उनका प्रतिरोधी-स्वर अखीर तक प्रभावी और निष्कंप बना रहा। अपने लेखन और विचार में वे मार्क्स, गाँधी, सार्त्र, लोहिया, जीद्दू कृष्णमूर्ति, बर्ट्रेल रसेल, डी. एच. लारेंस आदि से प्रभावित रहें। वे कन्नड़ भाषा के उन युगांतकारी रचनाकारों में थे, जिन्होंने भारतीय चिन्तन धारा को नया उन्मेष दिया।"[3]

'संस्कार' उपन्यास में सांस्कृतिक संघर्ष लगातार चलता है जो मुख्य रूप से वहाँ के ब्राह्मणों और नारणप्पा के कारण उत्पन्न होता है। दुर्वासापुर में रहनेवाले ब्राह्मण लोभी, स्वार्थी, ईष्यालु और संकुचित मानसिकता के हैं। उनका ब्राह्मणत्व सिर्फ इस बात पर टिका हुआ है कि वे सैकड़ो हजारों साल पुरानी परम्पराओं तथा नियमों का पालन करने में है। वह नियमों का पालन सिर्फ इसलिए करते हैं कि वह इन नियमों से यदि भटक जाए तो अनर्थ हो जाएगा। शव के संस्कार करने की बात सुनकर गरुड़ाचार्य नारणप्पा के विरुद्ध कहते हैं –"अभी यह प्रश्न छोड़ दें कि मुझे संस्कार करना चाहिए या नहीं। पहला सवाल तो यह है कि यह ब्राह्मण है भी या नहीं? क्या कहते हैं-शूद्र से निरंतर सहवास किया था इसने।"[4]

दुर्ववासापुर के ब्राह्मण असमंजस की स्थिति में है कि नारणप्पा का संस्कार करें कि नहीं क्योंकि नारणप्पा अपने बरामदे में बैठकर मुसलमानों के साथ माँस, मदिरा लेता था, अछूत कन्याचंद्री से शादी की थी तथा शालिग्राम को उठाकर नदी में फेक दिया था। उसने ब्राह्मणत्व के सभी संस्कारों का त्याग कर दिया था किन्तु ब्राह्मणत्व ने उसे नहीं छोड़ा था या यों कहे कि ब्राह्मणों ने उसे त्यागा नहीं था। संस्कार में यहीं सांस्कृतिक संघर्ष का प्रमुख कारण है। दासाचार्य कहते है, "अब अगर एकदम बिना सोचे-समझे या जल्दबाज़ी में इसका दाह-संस्कार करना तय कर ले तो बस हम ब्राह्मणों को कभी भी कोई भोजन-श्राद्ध पर नहीं बुलाएगा, यह निश्चित है। लेकिन शव को इसी तरह पड़े रहने देकर हम उपवास पर तो नहीं रह सकते।"5 वास्तव में दासाचार्य का कहना यहाँ समूचे अग्रहार के ब्राह्मणों का कथन है जो कि सांस्कृतिक संघर्ष की उपज है क्योंकि नारणप्पा जैसे ब्राह्मण का दाह संस्कार करना कोई भी नहीं चाहता था, क्योंकि नारणप्पा ने ब्राह्मण के सभी आचार-विचार को त्याग दिया था और उसने अपना जीवन जाति-पाति,छुआछूत, धर्म-अधर्म से परे होकर व्यतीत किया। यहाँ पर हम दुर्वासापुर के ब्राह्मणों की लोलुपता साफ तौर पर देख सकते हैं जैसे -श्राद्ध में भोजन मात्र के लिए शव का दाह -संस्कार न करना।शव का दाह संस्कार न करना भी तो ब्राह्मणत्व का अपमान है।

"संस्कार" में यू. आर. अनन्तमूर्ति ने ब्राह्मणों पर करारी चोट करते है तथा यह दिखाते है कि उनका आचार-विचार सब कुछ केवल ऊपरी सतह तक है। नियमों से इतना बंध चुके हैं कि केवल रूढ़ियों, धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा मनुस्मृति के हिसाब से अपना जीवन-यापन करने में लगे है। इन्हीं खोखले और दकियानुसी शास्त्रों के मोहपाश के बन्धन में जकड़े हुए नजर आते है और केवल अपना स्वार्थ ढूंढते है। वह केवल नाम के ही ब्राह्मण रह गये है दूसरों का धन हड़प लेना, जैसा कि गरुणाचार्य ने एक विधवा लक्ष्मीदेवम्मा के साथ किया। उसे घर से निकाल दिया और उसकी जमीन भी हड़प ली। क्या ब्राह्मणत्व इसकी अनुमति देता है? अनंतमूर्ति यह प्रश्न करना चाहते हैं वह दिखाते हैं कि एक तरफ दासाचार्य जैसे ब्राह्मण हैं जो सिर्फ भोजन के बारे में सोचते हैं। ब्राह्मणत्व की दुहाई देने के बावजूद भी अपने पड़ोस के गाँव परिजातपुर में शव-संस्कार से पहले ही अपने से नीची जाति के ब्राह्मण के यहाँ भोजन करते है और मंजय्या को किसी को भी बताने से मना करते हैं। नारणप्पा ऐसे ब्राह्मणों को अच्छी

तरह जानता है और इसलिए इस प्रकार के ब्राह्मणत्व और ब्राह्मण का विरोध करते हुए प्राणेशाचार्य से कहता है, "देखें, आखिर कौन जीतता है- मैं या आप ? मैं ब्राह्मणत्व का नाश करके ही हटूंगा। लेकिन मुझे दुख इस बात का है कि विनाश के लिए इस अग्रहार में आपके अतिरिक्त कोई दूसरा ब्राह्मण ही नहीं रहा। गरुण, लक्ष्मण, दुर्गाभट्ट - हा हा हा ए ब्राह्मण है?"[6]

भौतिक अथवा विशुद्ध सामाजिक दृष्टि से देखे तो यह उपन्यास नारणप्पा के दाह संस्कार और अग्रहार के माधव ब्राह्मणों के रूढ़िवादी संस्कारों की कहानी जान पड़ती है। इसमें कहीं कोई शक नहीं कि संस्कार के माध्यम से अनन्तमूर्ति का एक बड़ा प्रयोजन ब्राह्मण समाज, खास तौर से माधव समाज की सड़ी-गली मान्यताओं, अंधविश्वासों और चारित्रिक दोगलेपन पर कटाक्ष करना है। भारत में संस्कार को लेकर जो थोड़ा-बहुत विरोध प्रदर्शन हुआ, वह इसके अर्थ को इसी भौतिक स्तर पर ग्रहण करने की वजह से हुआ।

प्रो.विनोद कुमार तिवारी लिखते है, "संस्कार" विश्व की किसी भी भाषा में जो कुछ महत्वपूर्ण रचा गया है उसमें होड़ लेने वाला एक ऐसा आधुनिक क्लासिक है जो धर्म, धर्माचरण वर्णव्यवस्था, जाति, समाज, परम्परा, नैतिकता, मूल्य सब में अन्तर्निहित पाखण्ड को उजागर करता है। कृत्रिम बनावटी, अवास्तविक संरचनाओं को तार-तार करता यह उपन्यास सही अर्थों में पतनशील हिंदू धर्म की 'ब्राह्मणवादी संरचना' और 'व्यवस्था' का जबरदस्त क्रिटिक रचना है। "[7]

'संस्कार' के सन्दर्भ में बहुत सारे विद्वान इसकी विवेचना रूढ़िवादिता, लोलुपता आदि इसी सतही स्तर पर किया है। राबर्ट ज़ाइडेनबास ने संस्कार पर चर्चा करते हुए इसी संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। उनके अनुसार- "संस्कार का मूल विषय रूढ़िवादिता का संकट है और इस संकट को हिन्दू धर्म के आलोक में देखते हैं।"[8]

यहाँ एक वाजिब सवाल उठता है कि क्या यह संकट केवल हिन्दू धर्म या समाज का है? क्या झूठ फरेब, कंजूसी-लालच, ईर्ष्या-द्वेष और नैतिक दोगलापन सिर्फ हिन्दू धर्म में ही हैं? फिर संस्कार में इन मानवीय दोषों के चित्रण के आधार पर इसे हिन्दू धर्म पर कुठाराघात मान लेना कहाँ तक उचित है?

नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी. एस. नैपाल ने भी इसे इसी आलोक में देखा है। श्री नेपाल वैसे भी भारतीय. संस्कृति पर अपने पूर्वाग्रह के लिए खासे जाने जाते हैं। यहाँ भी उनका मकसद सरकार की समीक्षा करना न होकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति की चीड़-फाड़ करना है। तभी तो उन्होंने संस्कार के साथ-साथ महात्मा गांधी की आत्मकथा को भी निशाना बनाया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि भारतीय मानस बाहरी दुनिया के यथार्थ का इस्तेमाल अपने स्वत्व की क्रमबद्धता बनाए रखने के लिए करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अपने भीतरी मन को टटोलने तथा उसे परीक्षा से गुजरने के लिए बाहरी अनुभवों से गुजरता है।

अपनी इस एकांगी दृष्टि की वजह से नैपाल को संस्कार में बर्बर सभ्यता का चित्रण दिखाई देता है। "उनके शब्दों में, अनन्तमूर्ति ने जाने या अनजाने एक ऐसी बर्बर सभ्यता का चित्रण किया है, जहाँ धर्म ग्रंथों और नियमों के पीछे जादुई ताकत है और जहाँ एक व्यापक सामाजिक संगठन किसी भी नैतिक दायित्व के बोध से रहित है। वह सिर्फ अपनी मुक्ति की कामना रखता है। ये लोग असहाय और आसानी से अपना संतुलन खो बैठने वाले हैं। जिस सभ्यता में ये जन्मे हैं, वह सड़ गल गई है। वे एक ऐसा समाज बनाते हैं, जिसका कि कोई अगुवा नहीं है।"[9]

यू. आर. अनंतमूर्ति दुर्वासापुर के सांस्कृतिक संघर्ष को दिखाते हुए ब्राह्मणों की खोखली मान्यताओं और परम्पराओं पर चोट करते हैं। वह दिखाते हैं कि नारणप्पा जो कि ब्राह्मणत्व को त्याग चुका है और डंके की चोट पर जो काम करता है वहीं काम अन्य ब्राह्मण ब्राह्मणत्व के आड़ में करते हैं। प्राणेशाचार्य का अछूत कन्या 'चंद्री' के साथ उपभोग करना और फिर लोगों को इस बात का यदि पता चल जाए तो उस पर उनका घबराना इसी बात का उदाहरण है। स्मार्त और माधव ब्राह्मणों का आपस में संघर्ष भी तत्कालीन सांस्कृतिक संघर्ष को दिखाता है। दुर्गाभट्ट माधवों की हंसी उड़ाते हुए कहता है -"छी:छी:छीः, उतावले मत होइए, आचार्य जी। शूद्राको रखैल बनाकर रखने से ही ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होता। उत्तर से इस ओर आए हुए हमारे पूर्वज। द्रविड़ स्त्रियों के साथ सहवास हुआ है उनका ऐसा इतिहास बताता है।"[10] तो वहीं दूसरी ओर जब दुर्वासापुर के ब्राह्मण परिजातपुर, के ब्राह्मणों से दाह-संस्कार करने के लिए निवेदन करते हैं तो दुर्गाभट्ट को बड़ी चिंता होती हैं क्योंकि परिजातपुर के ब्राह्मण स्मार्त है और अगर वह दाह-संस्कार कर देंगे तो वह जाति भ्रष्ट हो जायेंगे, इसलिए वह स्मार्तों को ब्राह्मणत्व का डर दिखाकर भयभीत करते हैं।

इस प्रकार सांस्कृतिक संघर्ष पर चोट करते हुए साने गुरु ने लिखा है, "जो संस्कृति महान होती है, वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा महान क्यों है? दूसरे प्रवाहों को अपने सेमिला लोने के कारण ही वह पवित्र रहती है। चन्द्री का एक मुसलमान से नारणप्पा का दाह संस्कारकराना भी इस बात को दर्शाता कि ब्राह्मणों में आपस में ही सामजस्य नहीं होने के कारण सांस्कृतिक संघर्ष इतना बढ़ गया है कि कोई भी दाह-संस्कार करने को तैयार नहीं है। नारणप्पा जहाँ आधुनिकता विद्रोही संस्कृति का प्रतीक है वहीं दूसरी तरफ प्राणेशाचार्य पुरातन संस्कृति के पक्षधर हैं।

'संस्कार' में सांस्कृतिक संघर्ष का दूसरा रूप हमें प्राणेशाचार्य के रूप में दिखाई देता है। चन्द्री के साथ शारीरिक मिलन के उपरान्त ही उनके जीवन में परिवर्तन आने लगता है। इसका प्रमुख कारण है प्राणेशाचार्य के मन में अपनी और नारणप्पा की सांस्कृतिक विचारधारा का टकराव। अतः नारणप्पा की मृत्यु के पश्चात् गिनती के क्षणों में ही प्राणेशाचार्य के अंदर नारणप्पा जैसा ही पुरुष जन्म लेता है। चन्द्री का उपभोग करने के पश्चात् प्राणेशाचार्य की अपनी संस्कृति के साथ संघर्ष होना शुरू हो जाता

है। वह यह भांप जाते है कि ऊपर से लादे गए आवरणों के नीचे हाड़-मॉस के इंसान ही है। चंद्री के साथ शरीरिक मिलन में परिस्थिति ही आचार्य के मनः स्थिति को झकझोर कर रख देती है और उन्हें प्रेरित करती हैं। शास्त्रज्ञान और उनके संकल्प से उनका सूत्र टूट जाता है। समग्र उपन्यास की सृष्टि का केन्द्रीय बिन्दु है कि पुराने विचारों का टूटना और नये विचारों का संचालन होना।

" संस्कार' उपन्यास में जिस बारीकी से धार्मिक पाखंड और शास्त्र-पुराण अनुमोदित तरह-तरह की रूढ़ियों और अंध-विश्वासों से लदे-फटे ब्राह्मणवाद को तार-तार करता है उतनी ही बारीकी से 'काम' संबंधी पाप-पुण्य जनित भय की धारणाओं और वर्जनाओ का ,दमित काम इच्छाओं का मनोविश्लेषणात्मक चीर-फाड़ करता है। ईड, इगो, सुपर 'ईगो के हवाले और ब्यौरे अपको उपन्यास में कहीं नहीं मिलेंगे परन्तु, उपन्यास में मौजूद चरित्रों के हवाले से आप इन्हें विश्लेषित कर सकते हैं। हम सब जानते हैं, जो सुपर ईगो है, वह 'सेंसर' का काम करता है। विधि-निषेध-यह करो यह न करो, के आदेश यही पारित करता है। इसीलिए, सुपर ईगो एक तरह के निषेध (resistance) का कार्य भी करता है। इसलिए उसका खुद से (ईगोसे) एक संघर्ष भी रहता है। आत्म-संघर्ष की इस प्रक्रिया में ही 'लिविडो" को समझने जानने की प्रक्रिया अंतर्निहित है। यह उपन्यास मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्त निरूपण का उपन्यास नहीं है परन्तु मनुष्य की मानसिक आवेग और निर्वेग को नियंत्रित करने वाली संरचनाओं और उनकी जटिलताओं, परस्पर विरोधी कामनाओं और इच्छाओं के दुविधा और द्वंद्व को मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषित करने वाला उपन्यास जरूर हैं। इस संबंध में मीनाक्षी मुखर्जी का यह विवेचन निश्चित ही गौर करने लायक हैं - “संस्कार को सिर्फ रूढ़िवादी हिन्दू धर्म की आलोचना की तरह पढ़ना उसे बहुत संकुचित कर देना होगा । यह एक उल्लेखनीय उपन्यास सिर्फ इसलिए नहीं है कि इसमें एक पतनशील मूल - व्यवस्था का नकार है बल्कि यह इसलिए भी उल्लेखनीय उपन्यास है कि इसमें भौतिक और आधिभौतिक,लौकिक और पारलौकिक तार परस्पर जुडते हैं, जिसमें एक व्यक्ति की सामाजिक दुर्गति के आंतरिक पहलू को उसकी मनोवैज्ञानिक जटिलता के साथ पकड़ा गया है और जिसमे समस्या - अनोखे ढंग से निजी समस्या होने के बावजूद - एक ऐसे सभ्यता संकट को भी सामने लाती है, जिसमें सामूहिक प्रक्रिया नियमबद्धता की पीड़ादायक प्रक्रिया के बीच निजी चयन के लिए जगह बन रही है ।”[12]

यह जो निजी चयन की स्वतंत्रता है, वह इसलिए मूल्यवान है कि, समाज में व्यक्ति - स्वातंत्र्य की पहचान कराती है। दुनिया के हर एक लोकतांत्रिक, समाजों में सबको इसके चयन का अधिकार है। पर, दुर्भाग्य से जिन समाजों में इसे थोपने का प्रयास किया गया है वहाँ तानाशाही बढ़ी है, फासीवाद का जन्म हुआ है। हम जिस दुनिया में रह रहे है वह दुनिया अपने विचार, अपनी आस्था, अपनी राष्ट्रीयता, अपने अधिकार, अपनी स्वतंत्रता, अपनी निजता और अपनी अस्मिता को बहुत गहरे तक जीने वालों की दुनिया है। वह क्या लिखें, वह क्या पढ़े, वह क्या खाए, वह क्या पहने, वह कौन सा गीत-संगीत सुने,

किससे प्रेम करे, किससे घृणा करें इसके लिए उसने लंबा संघर्ष किया है। संघर्ष की इस प्रक्रिया में ही 'संस्कार' के इस पाठ को लेना चाहिए। अनंतमूर्ति जिस तरह से उपन्यास में परस्पर एक-दूसरे के विरोधी लगने वाले किन्तु एक-दूसरे के पूरक और समवर्ती (Concurrent) विचारों, तर्कों, धारणाओं, और मान्यताओं को रचते हैं वह इस उपन्यास को संरचनात्मक ऊंचाई प्रदान करते हैं।

स्त्री-पुरुष के काम-सम्बन्धों में धर्म शास्त्र द्वारा बनाए गए, भय, पाप, दुराचार, अनैतिकता, स्वर्ग नरक, आदि के विधि-निषेध और तद्जनित उन ग्रंथियों और दमित इच्छाओं के परस्पर संघातीचित्र यह उपन्यास बहुत ही तार्किकता के साथ पेश करता है। पौराणिक पोथियों के पाठ में वर्णित स्त्रियों व उनके सौंदर्य का भोग-उपभोग करने वाले ऋषि और उसके ठीक उलट उन्हीं पुराणों पोथियों से संचालित, वास्तविक जीवन, दोनों में इस कदर भेद क्यों? भोग और निरोध की जो मन: संरचना है, पापाचार और सदाचार की जो पाप-पुण्य रचित भय जनित दुविधा है, उस भय और दोहरेपन या द्विविधा (Ambiguity) को यह उपन्यास, नारणप्पा-चंद्री और प्राणेशाचार्य-चंद्री, श्रीपति-बेल्ली के संबंध के सहारे बहुत गहरे तक विश्लेषित करता है। नारणप्पा चन्द्री जैसी रुपवती वेश्या को लेकर अपने साथ रखता है और अपनी भावना और कामना को उसके साथ खुल कर अकुंठ और आकंठ जीता है। ब्राह्मण धर्म के सारे नीति-नियम, विधि-विधान की धज्जियाँ उड़ाता है। अपने को चार्वाक का वंशज कहता है। निरोधमार्गी, निवृत्ति साधना वाले हिंदू धर्म की ब्राह्मणवादी व्यवस्था व संरचना को भरसक तहस-नहस करता है। चन्द्री के साथ संसर्ग के बाद जिस पोथी, मंत्र, साधना, तप, त्याग, आदि के प्रति प्राणेशाचार्य के मन में संदेह पैदा होता है, जिसे वह कहते है की, 'नहीं, नहीं, यह सब झूठ है।' उसे कब का नारणप्पा झूठ और आडम्बर कह कर हवा में उड़ा चुका है। दरअसल, प्राणेशाचार्य का असल संघर्ष अपनी इसी प्रतिछवि से है। दोनों दो विरोधी मतों और मान्यताओं के अतिशय आग्रही है। एक बद्ध और एक मुक्त । न पहले की बद्धता सामाजिक है और न दूसरे की मुक्ति । नारणप्पा अनुकरणीय चरित्र नहीं है परंतु प्राणेशाचार्य भी उससे हारा हुआ महसूस करते हैं, इसलिए कि वह उनकी खुद की उस प्रतिछवि की हार है जिसे सायास वो दुराते रहे हैं। करुणा, मातृत्व और रत्यानंद के मिले-जुले सुख से जंगल के घने अंधेरे में चन्द्री की गोद में सो रहे प्राणेशाचार्य की नींद जब एक आनंदपूर्ण जागृति में टूटती हैं, तो उनकी आँखे एक नयी दुनिया में खुलती हैं-" चारों ओर आश्चर्य से देखा। खुले पंखोंवाले मोर की तरह अक्षय नक्षत्रों से भरी रात थीं। सप्तर्षियोंका मण्डल, अगस्त्य के निकट सती स्त्रियों की आदर्श अरुंधति ! नीचे हरी घास की गंध, नम और ठंडी मिट्टी, विष्णुकांति के नीले फूलों की बाढ़ और जंगली चिरायते की घनी बेलें। एक स्त्री की स्नेह-सिक्त देह की गंध, अंधकार भरा अकाश, शांति से खड़े वृक्ष। यह सब सपना भी हो सकता है, उन्होंने ने अपनी आँखों को हाथ से मला"[13] अब उनकी आखो के सामने यह जो सपने सी लगने वाली दुनिया है, उसमें उनकी खुद की अपनी पूर्व पहचान मिट सी गयी है। सबकुछ को भूले हुये दिशाहारा प्राणेशाचार्य के इस वाक्य - "मैं बिल्कुल भूल गया हूँ कि किस ओर से - मैं यहाँ आया

हूँ, यहाँ से कहाँ जाना है'- का निहितार्थ साफ है । उपन्यास के तीसरे और आखिरी हिस्से मे जो प्राणेशाचार्य हैं, अब वहीं प्राणेशाचार्य नहीं है। अब वे किसी के पथ-प्रदर्शक नहीं , खुदके भी नहीं। अब वे पुराने पद-चिन्हों को छोड़कर" नितान्त स्वतंत्र होकर, घर-वार, सब कर्तव्य, सब ऋण आदि पीछे छोड़कर एक ऐसे रास्ते पर निकल पड़े हैं, जिसका गंतव्य किधर है इसका पता नहीं है। बस पाँव जहाँ तक, जिस ओर हो जाएँ चलते चले जाना है। इस नए प्रस्थान के वक्त प्राणेशाचार्य की द्विविधा (Ambiguity) मिट चुकी है। वह सत्-असत्, सार-निस्सार, विधि-निषेध, काम्य-निष्काम्य, सुख-दुख, धूप-छांव सबकी स्वाभाविक प्रकृति और जरूरत को बहुत गहरे तक जान चुके हैं। इस अनजान रास्ते पर खुद से ही उनकी यह बातचीत कितनी प्राकृत है। इसके सार को समझना चाहिए - ''मुझे अपने निर्णय के अनुसार चलते रहना चाहिए-ऐसा सोचते हुए और मन में एक प्रकार के संतुलन को बनाए रख कर वे बढ़ते रहे। इससे पहले जब कभी उनका मन उद्विग्न होता था वे उसे एकाग्र करने के लिए 'अच्युतानंदगोविंदा' के नाम का स्मरण करते थे। अब भी एक बार ऐसा करने की उनकी इच्छा हुई।उन्हें योग के पहले सिद्धान्त का स्मरण हो आया - 'योगश्च-चित्तवृत्तिनिरोधः', लेकिन नहीं, यह उन्होंने मन ही मन कहा मंत्र जाप, नाम-स्मरण की झूठी सांत्वना को दूर कर दो, एकाकी अपने पैरो पर खड़े रहो! मन को प्रकाश और छायाके आकारों की तरह हो जाने दो जो कि धूप के रूप में वृक्षों से छनकर आने से स्वाभाविक रूप से बन जाते हैं। आकाश में प्रकाश, वृक्षों के नीचे छाया और धरती पर आकार ! यदि सौभाग्य से पानी की बौछार हो जाये तो इंद्रधनुष की मरीचिका भी। मनुष्य का जीवन इसी धूप के समान होना चाहिए। मात्र एक बाध- मात्र एक विशुद्ध आश्चर्य निश्छल और इस निश्छलता में तैरते हुये, जैसे कोई बड़े, फैले हुए पंखों वाला पक्षी आकाश में तिरता है।"[14]

'संस्कार' उपन्यास में सांस्कृतिक टकराव मुख्यतः नारणप्पा और प्राणेशाचार्य के मध्य चलता है। नारणप्पा की मृत्यु के पश्चात भी प्राणेशाचार्य के मन में नारणप्पा द्वारा कहीं गई बातों और उसके विचारों को लेकर द्वंद्व चलता रहता है। जिसके कारण प्राणेशाचार्य मानसिक रूप से विक्षिप्त दिखाई देते हैं। नारणप्पा वेद पुराणों को पढ़ने से अधिक उनके अर्थ ग्रहण पर बल देता है , क्योंकि उसका मानना है कि पढ़ना और पढ़ाना एक बात है और उसे जीवन में उतारना दूसरी बात। प्राणेशाचार्य और नारणप्पा में यहीं अंतर है कि प्राणेशाचार्य ने जो अपने जीवन में पढ़ा और पढ़ाया उसको अपने जीवन में उतार न सके। प्राणेशाचार्य के आदर्शवाद और नारणप्पा के बेहूदापन के संघर्ष के बीच यह उपन्यास भारतीय समाज का रूप धारण कर लेता है। नारणप्पायथार्थवादी लबरेज नज़र आता है। नारणप्पा ने जो थोड़ा-बहुत ज्ञान पाया उसे वह अपने जीवन में उतार लेता है और उसे जिया । स्पष्ट है कि प्राणेशाचार्य व्यवहारिक नहीं थे वे किताबी ज्ञान को महत्व देते है, उसे व्यवहार में लाने की सलाह देने की जगह संयम और त्याग पर बल देते है इसी कारण उन्हें धार्मिक भग्नता-अंधविश्वास का टूटना - की स्थिति का सामना करना पड़ता है। जब वे हनुमान जी से संशय की स्थिति में हल लेने जाते है तब उपन्यासकार

कहता है:- “हनुमान जी किसी बात पर न पसीजे, कुछ भी जैसे ना सुना, हाथ में उठाएं पर्वत की तरफ मुँह कियेखड़े रहे।… वे (प्राणेशाचार्य जी) उठ खड़े हुए। फिर धीमे- धीमें कदमों से मंदिर से बाहर निकल आए।"[15]

जिस समस्या का समाधान उन्हें व्यवहारिक ज्ञान से करना चाहिए था उसे करने के लिए वे किताबी ज्ञान की तरह अव्यवहारिक प्रक्रिया अपनाते हैं और हनुमान जी को मंत्र उच्चारण से खुश करना चाहते हैं यहां अनंतमूर्ति यह बताना चाहते है कि हार हमेशा अव्यवहारिक ज्ञान की ही होती है।

प्राणेशाचार्य अपने मानसिक द्वंद्व में फँस जाते है उनकी कोई किताब उनके काम नहीं आती है। वह अपने मानसिक द्वंद्व से परेशान होकर गाँव छोड़कर अनजानी दिशा में निकल पड़े आचार्य जी अपने कृत्यों को नीति अनीति,पाप-पुण्य आदि किसी भी लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाते है। किसी क्षण पापग्रंथि से छूटने का प्रायश्चित भाव अनुभव करते हैं, तो किसी क्षण चंद्री के शरीर की कामना कर उठते हैं। प्राणेशाचार्य न सिर्फ स्वयं के दो सत्यों के बीच लटका हुआ पाते हैं, बल्कि अपनी स्थिति की तुलना ऋषियों और स्त्रियों के साथ उनके संबंधों की स्थिति से भी करते हैं। एक तरह से प्राणेशाचार्य मृतक नारणप्पा का स्थान ले लेते और उसी तरह नियमों का उल्लंघन करने में लग जाते जिसका कारण उनके मन में उनकी और नारणप्पा के बीच सांस्कृतिक विचारधारा में टकराहट का होना है। डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, “संस्कार का नायक प्राणेशाचार्य ब्राह्मण पुरोहित की तरह बर्ताव करने के लिए तमाम कोशिश करता है, पर नैतिकता से च्युत होकर वह साधारण मनुष्य रह जाता है।”[16]

इस प्रकार तमाम सांस्कृतिक संघर्ष और उनके विचारों के द्वंद्व में फँसे प्राणेशाचार्य जूझते नज़र आते है। डॉ. मीनाक्षी मुखर्जी लिखती हैं, “उपन्यास का केन्द्रीय पात्र, सामाजिक रूप से व्यवहृत धार्मिक परम्परा की एक अमानवीकरणकारी विधि-निषेध व्यवस्था को ठुकराने का प्रयास करता है और उपन्यास के आखिर तक हम नहीं जान पाते कि खुद को मुक्त करने मेंउन्हें कितनी कामयाबी मिल पाएगी। आचार्य का संघर्ष स्वतः स्फूर्तता का गला घोटने वाले मताग्रह से है।”[17]

यू. आर. अनंतमूर्ति ने प्राणेशाचार्य के मन में सांस्कृतिक संघर्ष को निम्न पंक्तियों में बखूबी दिखाया है,“नारणप्या की तरह ही, जिसने मंदिर के सरोवर में मछलियाँ पकड़कर समूचे अग्रहार को उलट-पलट दिया था, मुझसे भी, ब्राह्मणों के जीवन में अमूल परिवर्तन होने जा रहा है। उनकी आस्था में मुझसे बहुत करारी चोट पड़ेगी। मैं उन्हें क्या बतलाऊंगा? कि चन्द्री के साथ मैनें संभोग किया था। कि मैं अपनी पत्नी से घृणा करने लगा था ? कि मैंने बाजार कि एक चालू दुकान से मेले में कॉफी पी ? मैं मुर्गों की भयावह, हिंसक लड़ाई देखता रहा? कि मेरे भीतर पद्मावती के प्रति कामुकता का भाव जगा ? कि मैंने एक मालेर लड़के को मंदिर में अपने साथ आने और अपने साथ भोजन करने का न्योता किया?"[18]

इस प्रकार उपन्यास का अंत अत्यन्त रोचक और सांस्कृतिक संघर्ष के चरम बिन्दु पर जाकर हो जाता है। अनंतमूर्ति को खुद इस बात का पता नहीं होता है कि आगे क्या होगा। वस्तुतः प्राणेशाचार्य की सांस्कृतिक संघर्ष में जो पीड़ा तथा कष्ट है वह अस्तित्व के अन्य रूप से रूपांतरण की पीड़ा एवं कष्ट है। ननिष्कर्षत: यू. आर. अनंतमूर्ति ने 'संस्कार' में सांस्कृतिक संघर्ष और विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों, पाखण्ड, रुढ़ियों को बड़ी ही प्रमुखता से उजागर किया है। उपन्यास का विवेचन मनोविज्ञान के रूप में किया है जो उपन्यास को अत्यन्त दृढ़ और सशक्त बनाता है। अनंतमूर्ति ने दुर्वासापुर और परिजानपुर के ब्राह्मणों के माध्यम से धर्म-शास्त्र,ऊँच-नीच,जाति-कुजाति जैसे बड़े प्रश्नों को बड़ी बखूबी से उठाया है। उपन्यास में यथार्थतता का समावेश किया है। जो उपन्यास आधुनिकता और परम्परागत मूल्यों में उचित-अनुचित, नैतिकता-अनैतिकता आदि का बोध कराता है। इस प्रकार से 'संस्कार' उपन्यास साहित्य जगत का अमूल्य उपन्यास है।

सन्दर्भ:-

1.यू. आर. अनंतमूर्ति, 'संस्कार', राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2013, पृ.सं. 12 .

2. वही, पृ.सं. 15 .

3. संस्कार किसका ? (पतित नारणप्पा या पतित पावन वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य का), , पक्षधर, 31 मार्च 2020, डॉ. विनोद तिवारी, प्र.सं.- 2/11.

4. यू. आर. अनंतमूर्ति, 'संस्कार', राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली,संस्करण - 2013, प्र. सं. 15.

5. वही, प्र. सं. 18.

6. वही, प्र. सं. 34.

7. संस्कार किसका ? (पत्ति नारणाया या पतित पावन वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य का), पक्षधर, 31 मार्च 2020, डॉ. विनोद तिवारी, प्र. सं- 3/11.

8. IGNOU, E-Gyankosh, PDF, egyankosh.ac.in, unit – 9.

9. वही.

10. यू. आर. अनंतमूर्ति, 'संस्कार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2013, पृ० सं –16.

11. सूक्तिसागर, संग्रहकर्ता- रमाशंकर गुप्ता, (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थानलखनऊ), प्र. सं- 653 .

12. Meenakshi Mukherjee, Realism and Reality: The Novel and Society of India, Oxford University Press, Delhi, P. 169.

13. यू. आर. अनंतमूर्ति, 'संस्कार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2013; पृ.सं –79.

14. वही, प्र.सं 106.

15. वही, प्र. सं. 77.

16. नामवर सिंह, आलोचना पत्रिका, जनवरी-मार्च -1972.

17. Meenakshi Mukherjee, Realism and Reality: The Novel and society of India, oxford University Press, Delhi, P.180.

18. यू. आर. अनंतमूर्ति, 'संस्कार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - 2013, प्र. सं. 162-163.

- www.sanchar.com,E-Patrika.
- https://shodhganga.inflibnet.ac.in
- साहित्य जन मंथन,पत्रिका, www.sahitya.jan-Manthan.com परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व और संस्कार उपन्यास- January 12, 2020, कमलेश.

उद्देश्य सिंह

शोधार्थी, हिंदी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

(अनुवाद)

वर्षगांठ (Юбилей)

(एकांकी प्रहसन) **डॉ. आशुतोष आनंद**

<u>पात्र -</u>

शिपुचिन अंद्रेई अन्द्रयेविच - “न” सहकारी बैंक के समितिमंडल का अध्यक्ष, अधेड़ उम्र का व्यक्ति एक शीशे वाले चश्मा (मोनोक्ल) के साथ।

तत्याना अलेकस्येवना - शिपुचिन की पत्नी, उम्र 25 साल।

खिरिन कुज़्मा निकलायेविच - बैंक कैशियर, वृद्ध।

मेरचुतकिना नसतास्या फ्योदरवना - एक वृद्धा, पुराने फैशन के कोट में।

बैंक समितिमंडल के सदस्य गण

बैंक कर्मचारी

घटना स्थल – "न" सहकारी बैंक का ऑफिस

समितिमंडल अध्यक्ष का केबिन, बायीं तरफ बैंक का दरवाजा, लिखने की दो मेजें। बैंक के अंदर आरामदायक व सुनहरा दृश्य - मखमली फर्नीचर, फूल, मूर्तियाँ, कालीन, टेलिफोन, दोपहर का समय।

खिरिन (अकेला); पारंपरिक रूप से जाड़े में पहने जाने वाले फेल्ट बूट में।

खिरिन (दरवाजे पर चीखते हुए) - किसी को दवा की दुकान से 15 कोपेक की वैलेरिएना सिरप लाने के लिए भेजो, और हाँ, अध्यक्ष के केबिन में ताजा पानी लाने को भी कहो! सौ बार तुम्हें कहना पड़ेगा! (मेज की तरफ जाता है)। एकदम थक गया हूँ। लगातार चार दिन से लिख रहा हूँ, बिना पलक झपकाए। सुबह से शाम तक यहाँ और शाम से सुबह - घर पर । (खाँसता है।) पूरा शरीर बुखार से तप रहा है। कंपकपी, ज़्वर, खांसी, पैरों में दर्द और आँखों के सामने…(बैठता है)। हमारा चोंचलेबाज़ (स्वांगी) यह हरामजादा, अध्यक्ष, आज की मीटिंग में रिपोर्ट पेश करेगा - "हमारा बैंक: वर्तमान एवं भविष्य”. कैसी चाल है, सोचता है... (लिखता है) दो... एक… एक... छः… शून्य... उसके बाद छः… शून्य… एक… छः… वह सब की आँखों में धूल झोंकना चाहता है और मैं यहाँ बैठाकर उसके लिए जी तोड़ मेहनत कर रहा हूँ! ... उसने इस रिपोर्ट में केवल इधर-उधर की गप्पे मारी हैं और कुछ नहीं, इसीलिए मुझे यहाँ पूरा-पूरा दिन कैलकुलेटर पर काम करना पड़ रहा है, भाड़ में जाए... (कैलकुलेटर पर हिसाब करता है।) अब नहीं हो सकता! (लिखता है।) इसका मतलब, एक… तीन...

सात... दो... एक... शून्य... इतने कठिन परिश्रम के लिए इनाम देने का वादा किया है। अगर आज सब कुछ अच्छे से निपट गया और पब्लिक को चकमा देने में कामयाब हो गया, तो सोने का तमगा (बैज) और तीन सौ रुबल बोनस... देखते हैं। (लिखता है।) परंतु, अगर मेहनत मेरी बेकार गयी तो भाई मेरे, रहम करना… मैं थोड़ा चिड़चिड़े स्वभाव का आदमी हूँ... मैं तो भाई उसी समय कुछ कर बैठूंगा... हाँ!

स्टेज के पीछे से शोरगुल और ताली बजाने की आवाज। शिपुचिन की आवाज: “धन्यवाद! धन्यवाद! आपने मेरा दिल जीत लिया" शिपुचिन का प्रवेश। वह टैल कोट और उजली टाई में, एलबम लिये उपहार में मिला हुआ था।

शिपुचिन (दरवाजे पर खड़ा होकर आफ़िस की तरफ संबोधित करते हुए) - यह आपका तोहफा, प्यारे सहकर्मियों, मैं मरते दम तक अपने जीवन के सबसे खुशनुमा दिनों की तरह याद रखूँगा! हाँ, मेरे मेहरबानों! एक बार फिर से धन्यवाद! (फ्लाइंग किस देता है और खिरिन के पास जाता है) मेरे प्यारे, मेरे सम्मानीय निकलायिच!

पूरे समय, जब तक कि वह स्टेज पर है, कर्मचारी बीच-बीच में कागज़ पर हस्ताक्षर लेने के लिए आते हैं।

खिरिन (उठते हुए) - बधाई स्वीकार करें, अंद्रेई अन्द्रेयिच, बैंक की 15वीं वर्षगाँठ पर आशा करता हूँ कि …

शिपुचिन (गर्मजोशी से हाथ मिलाते हुए) - धन्यवाद, मेरे दोस्त! धन्यवाद! आज इस महान दिवस, वर्षगाँठ समारोह की खातिर, आओ गले लगें!

एक-दूसरे को गले लगाते हैं।

मैं बेहद प्रसन्न हूँ! आपकी सेवा के लिए धन्यवाद... सब कुछ के लिए, सभी चीजों के लिए धन्यवाद! इस बैंक के समितिमंडल के अध्यक्ष के नाते यदि मैंने कुछ भी भले का काम किया है, तो यह सब आपकी लगन और कड़ी मेहनत का परिणाम है। (लंबी सांसें लेते हुए।) हाँ, भाई मेरे पंद्रह साल! पंद्रह साल, क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! (उत्सुकतापूर्वक) पर मेरी रिपोर्ट? पूरी हो गयी??

खिरिन - हाँ, कुल पाँच पन्ने और बचे हैं।

शिपुचिन - बहुत खूब। मतलब, तीन घंटे में तैयार हो जाएगा?

खिरिन - अगर किसी ने परेशान नहीं किया/tang nhi ladaya तो पूरा कर लुंगा । छोटी-मोटी बातें रह गई हैं।

शिपुचिन – बहुत खुब ,बहुत खुब, क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! जनरल मीटिंग चार बजे होगी। मेहरबानी, मेरे दोस्त। ये आधी रिपोर्ट दे दो, मैं एक नजर डाल लुंगा ... जल्दी दो... (रिपोर्ट लेता है।) इस रिपोर्ट से मुझे बहुत आशाएँ हैं... यह मेरा प्रोफेशन दे फोई है, या दूसरे शब्दों में कहें तो मेरी आतिशबाजी... आतिशबाजी... क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! (बैठता है और अपने बारे में रिपोर्ट पढ़ता है।) थक गया हूँ मैं, बुरी तरह… रात को जोड़ों का दर्द जोरों पर था, सुबह में ये दौड़-धूप, और ये सारा टेंशन, धूम-धड़ाका, हलचल… थक गया!

खिरिन - दो... शून्य... शून्य… तीन... दो... शून्य... नंबरों के कारण अब आँखों में धुंध-सा लग रहा था … तीन… एक… छः… चार… एक… पाँच (कैलकुलेटर पर हिसाब करता है ।)

शिपुचिन - साथ में एक और परेशानी थी… आज सुबह मेरे पास आपकी बीवी फिर से आपकी शिकायत कर रही थी। कह रही थी, कि कल शाम को आप उसको और उसकी बहन को चाकू लेकर खदेड़ रहे थे। कुज़्मा निकलायिच, छिः-छिः! ये क्या है?

खिरिन - (सख्त लहजे में) वर्षगाँठ की खातिर, अंद्रेई अन्द्रेयिच, मै यह कहने की हिम्मत कर रहा हूँ। आपसे विनम्र प्रार्थना है, कम से कम मेरे इस कठिन परिश्रम की खातिर ही सही, मेरे पारिवारिक जीवन में खलल न डालें। विनती करता हूँ!

शिपुचिन (लंबी सांसे भरते हुए) - आपको समझना नामुमकिन है, कुज़्मा निकलायिच! आदमी तो आप बड़े अच्छे हैं, आदरणीय भी, पर महिलाओं के साथ किसी चील की भाँति पेश आते हैं। सचमुच, समझ में नहीं आता, आप उनसे इतनी नफरत क्यों करते हैं?

खिरीन - और मुझे यह समझ में नहीं आता कि, आप उन्हें इतना पसंद क्यों करते हैं?

विराम

शिपुचिन - कर्मचारियों ने अभी-अभी एक एलबम भेंट किया है, और समितिमंडल के सदस्य, जैसा की मैंने सुना है, मुझे भेंट करना चाहते हैं एक अभिनंदन पत्र और चाँदी का जग... (एक शीशे वाला चश्मा घुमाते हुए।) अच्छी बात है - क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! ये कोई ऐसी-वैसी बात थोड़े ही है... बैंक की प्रतिष्ठा के लिए थोड़ी दिखावटी तड़क-भड़क तो करनी ही पड़ती है, आप सब अपने आदमी हो और आपलोग, जाहिर है, सब जानते हैं... कि अभिनंदन पत्र मैंने खुद लिखा है, चाँदी का जग भी मैंने ही खरीदा है... पर अभिनंदन पत्र को फ्रेम कराने में 45 रुबल लग गये, पर इसके बिना तो हो भी नहीं सकता। वे लोग इस बारे में सोच ही नहीं सकते थे (अपने चारों तरफ देखता है।) क्या जगह

हम लोगों ने पायी है! क्यों! लोग बोलते हैं कि मैं संकीर्ण विचार का आदमी हूँ। मैं केवल दरवाजे के चमकते हुए दस्ते, कर्मचारियों की सुंदर टाई और प्रवेश द्वार पर भीमकाय दरबान पर ध्यान देता हूँ। पर भाई ऐसी बात नहीं है। चमकते हुए दरवाजे का दस्ता और दरवान - यह संकीर्णता का परिचायक नहीं है। घर पर मैं आम आदमी की तरह रह सकता हूँ, खाना और सोना जानवरों जैसा कर सकता हूँ, मूर्ख की तरह पी सकता...

खिरिन - आपसे अनुरोध करता हूँ, कृपा करके …

शिपुचिन - उफ्फ, कोई भी यहाँ इशारा नहीं कर रहा है! आप किस तरह के आदमी हो… हाँ, मैं यह कह रहा था कि घर पर मैं आम आदमी की तरह रह सकता हूँ, घमंडी और अहंकारी हो सकता हूँ, लेकिन यहाँ सभी चीजें स्टाइलिश होनी चाहिए। यह बैंक है! यहाँ की हरेक चीज आकर्षक और शानदार होनी चाहिए। (फर्श पर से एक कागज़ का टुकड़ा उठाता है और अंगीठी में फेंकता है।) मेरी सबसे बड़ी योग्यता यह है कि मैंने बैंक का नाम रौशन किया है! यह एक असाधारण काम है, असाधारण, क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! (खिरिन को ऊपर से नीचे तक देखता है।) मेरे प्यारे, किसी भी समय बैंक के समितिमंडल के सदस्य यहाँ आ सकते हैं, और आप फेल्ट बूट और इस मफलर में हो … और इस बदरंग जैकेट में … आप टैल कोट पहन सकते थे या कम से कम फ्राक कोट …

खिरिन - मेरे लिए आपके बैंक के समितिमंडल से ज्यादा महत्वपूर्ण मेरा स्वास्थ्य है। मैं बुखार से तप रहा हूँ।

शिपुचिन (परेशान होते हुए) – लेकिन आपको मानना चाहिए कि यह ठीक नहीं है! आप यहाँ की सुव्यवस्था को भंग कर रहे हैं।

खिरिन - जब समितिमंडल आयेगा तो मैं कम से कम छुप सकता हूँ। ये कोई बड़ी बात नहीं है ... (लिखता है) सात… एक... सात... दो... एक... पाँच... जीरो। मैं भी अव्यवस्था पसंद नहीं करता ... सात… दो... नौ... (कैलकुलेटर पर हिसाब करता है.) मैं भी बर्दाश्त नहीं कर सकता अव्यवस्था! अच्छा होता यदि आप महिलाओं को आज वार्षिकोत्सव भोज पर नहीं बुलाते...

शिपुचिन - क्या बकवास कर रहे हैं ...

खिरिन - मैं जानता हूँ, आज आप ठाठ-बाट और सुंदरता की खातिर पूरे हॉल को उनसे भर देंगे। लेकिन, ध्यान दीजिए, वे लोग आपके सारे काम को बिगाड़ देंगी। उन लोगों के कारण सब खराब और अव्यवस्था हो जायेंगी।

शिपुचिन - ठीक बिलकुल इसके उलटा, महिलाओं की उपस्थिति तो जोश पैदा कर देती है।

खिरिन - हाँ, आपकी पत्नी, लगता है, पढ़ी लिखी हैं, लेकिन पिछले हफ्ते सोमवार को ऐसा बम फोड़ा कि उसके बाद, दो दिनों तक मेरे होश उड़े रहे। अचानक अजनबी लोगों के सामने पूछ बैठी - "क्या यह सच है कि हमारे बैंक में मेरे पति ने किसी ऐरे-गैरे बैंक का शेयर खरीदा है, जिसका मूल्य शेयर बाजार में गिर गया?" ओफ! मेरे पति बहुत चिंतित हैं। यह बात अजनबियों के सामने...! मुझे समझ में नहीं आता कि आप उन पर इतना भरोसा क्यों करते हैं। क्या आप चाहते हैं कि वे आपको अदालत तक ले जायें?

शिपुचिन - अच्छा, बहुत हो गया! वर्षगांठ की खातिर ये मनहूस बातें न करो । साथ ही, ठीक समय पर आपने मुझे याद दिलाया। (घड़ी देखता है।) मेरी पत्नी आने ही वाली होगी। वास्तव में, मुझे स्टेशन जाना चाहिए, आगवानी करनी चाहिए, बेचारी। लेकिन , समय नहीं है… और थक भी गया हूँ। पर सच कहता हूँ, उसके आने से मैं खुश नहीं हूँ। हाँ, मैं जरूर खुश होता, बल्कि और भी ज्यादा अच्छा लगता,अगर वो एक-दो दिन और अपने माँ के पास रूक जाती। वह अपेक्षा करेगी कि मैं आज की शाम उसके साथ गुजारुँ। परंतु आज हमलोगों का, दोपहर के बाद, सैर-सपाटे का प्रस्ताव है... (कांपता है) लगता है, मुझे अभी से कंपकपी शुरु हो गयी। नसें इतनी खिंची हुई हैं, जैसे लगता है कि थोड़ा भी गड़बड़ हुआ तो मैं रो पडूंगा! नहीं ,नही ,मुझे मानसिक रूप से मजबूत रहना है, क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है!

(तत्याना अलेकस्येवना का प्रवेश, कंधे में महंगा पर्स डाले हुए बरसाती में)

शिपुचिन - ओह हो! शैतान का नाम लिया और हाजिर!

तात्याना अलेक. - प्रिय! (पति की ओर दौड़ती है, एक गहरा चुंबन।)

शिपुचिन - हमलोग अभी-अभी तुम्हारे बारे में ही बात कर रहे थे!... (घड़ी देखता है।)

तात्याना अलेक. (हाँफते हुए) - मेरी याद आयी तुम्हें? स्वस्थ हो न? मैं घर भी नहीं गई, स्टेशन से सीधा यहाँ आ गई। तुम्हें बहुत, बहुत सारी बातें बतानी हैं… मैं इंतजार नहीं कर सकती... कोट भी नहीं उतारूंगी, लेकिन एक मिनट। (खिरिन को) नमस्कार, कुज़्मा निकलायिच! (पति को) - घर पर सब ठीक है, न?

शिपुचिन - सब ठीक है। इस हफ्ते तुम्हारा कुछ वजन बढ़ गया है ,काफी अच्छी लग रही हो… कहो, यात्रा कैसी रही ?

तात्याना अलेक. - बहुत शानदार। माँ और कात्या ने नमस्कार बोला । वसीली आंद्रेयिच ने चुंबन भेजा है। (चुंबन करती है) मौसी ने आपके लिए जैम भेजा है परंतु, सभी नाराज हैं क्योंकि आप चिट्ठी नहीं लिखते। जीना ने भी आपको चुंबन भेजा है। (चूमती है।) ओफ! काश आप जानते, क्या हुआ

वहाँ पर! मुझे कहते हुए भी डर लग रहा है। आह! क्या हुआ वहाँ पर! लेकिन आपकी आँखें बयां कर रही हैं, कि आपको मुझसे मिलकर अच्छा नहीं लगा।

शिपुचिन - नहीं… प्रिय… (चूमता है।)

खिरिन गुस्से से खाँसता है।

तात्याना अलेक. (आहें भरती है।) - ओह, बेचारी कात्या! मैं उसके लिए बहुत दुःखी हूँ।

शिपुचिन - प्रिय, आज बैंक की वर्षगांठ है, किसी भी समय बैंक समिति के सदस्य आ सकते हैं, और तुमने इस समारोह के अनुसार कपड़े भी नहीं पहने हैं।

तात्यांना अलेक. - अच्छा, वर्षगांठ! बधाई हो, सज्जनों… आप सभी को… मतलब, आज जलसा है, प्रीतिभोज... मुझे बहुत पसंद है। और याद है, वो खूबसूरत अभिनंदन पत्र, जिसे तुम इतने दिनों से लिख रहे थे, बैंक समिति के लिए? क्या वो आज तुम्हारे लिए पढ़ा जायेगा?

खिरिन गुस्से से खाँसता है।

शिपुचिन (झेंपते हुए) - प्रिय, इसके बारे में हम बात नहीं करेंगे… तुम घर क्यों नहीं चली जाती?

तात्यांना अलेक. - अभी, अभी। बस एक मिनट में बताती हूँ और जाती हूँ। मैं तुम्हें एकदम शुरु से बताती हूँ। तो… जब तुम मुझे स्टेशन छोड़ने गये थे, मैं, याद है, उस मोटी स्त्री के बगल में बैठी थी और पढ़ रही थी। ट्रेन में मैं बात करना पसंद नहीं करती। तीन स्टेशन गुजरने तक पढ़ती रही और किसी के साथ एक शब्द भी नहीं बोली… परंतु, शाम ढलते ही मेरे मन में मनहूस ख्याल आने लगे। मेरे ठीक सामने एक जवान लड़का बैठा था, देखने में खराब नहीं था, काले बालों वाला… तो, हमलोग बात करने लगे... एक नाविक भी आया और उसके बाद एक छात्र… (हँसती है।) मैंने उनसे कहा कि अभी मेरी शादी नहीं हुई… कैसे उनलोगो ने मेरी खातिरदारी की! आधी रात तक हम बातें करते रहे, काले बालों वाला खूब सारे मजेदार लतीफे सुनाता रहा, और नाविक सारा वक्त गाता रहा। हँसते-हँसते मेरा पेट दुखने लगा। और जब नाविक - उफ, ये नाविक भी, न! उसे जैसे ही पता चला कि मेरा नाम तत्याना है, तो मालूम है, उसने क्या गाया? “(तरन्नुम में गाती है।) अनेगिन, मैं छुपा नहीं सकता, बेइंतहा की हद तक तत्याना को प्यार करता हूँ!... (हँसती है)"

खिरिन गुस्से से खाँसता है।

शिपुचिन - लेकिन, तान्युशा, हमलोग कुज़्मा निकलायिच को नाहक परेशान कर रहे हैं। घर जाओ प्यारी… बाद में…

तात्याना अलेक. - कोई नहीं, कोई नहीं। अच्छा है अगर वो भी सुने, ये बहुत मजेदार है। मैं अभी खत्म कर दूँगी। स्टेशन पर सेरयोझा मुझसे मिला। वहीं पर एक नौजवान टैक्स इंसपेक्टर भी मिला… खूबसूरत था, खासकर उसकी आँखें… सेरयोझा ने परिचय करवाया और हम तीनों आगे बढ़े… मौसम बहुत ही सुहाना…

स्टेज के पीछे से आवाज: "नहीं! नहीं! मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?"

मेरचुतकिना का प्रवेश।

मेरचुतकिना (दरवाजे पर, अपने आप को किसी से छुड़ाते हुए) - छोड़ो मुझे। जाने दो! मुझे बॉस से मिलना है!... (अंदर आती है। शिपुचिन को इंगित करती है।) क्षमा चाहती हूँ, महामहिम... प्रांतीय सचिव की पत्नी, नसतास्या फ्योदरवना मेरचुतकिना।

शिपुचिन - मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?

मेरचुतकिना - कुछ कहने की इजाजत चाहती हूँ, महोदय, मेरे पति, प्रांतीय सचिव मेरचुतकिन, पाँच महीने से बीमार थे। इस दौरान उनका इलाज घर पर चल रहा था और उनको बिना किसी कारण नौकरी से निकाल दिया गया। महोदय, जब मैं उनकी तनख्वाह लेने गयी, तो वे लोग, कृपया कहने की इजाजत दीजिए, उनके तनख्वाह से 24 रुबल 30 कोपेक काट लिया। क्यों , मैं पूछती हूँ? "और, वे लोग कहते हैं रोज़गार निधि से पैसे दिए गए थे, जिसकी इन्होंने गारंटी ली थी। ऐसा कैसे हो सकता है? मेरा पति बिना मुझसे पूछे पैसे कैसे ले सकता है? ऐसा नहीं हो सकता, महोदय! मैं एक गरीब औरत हूँ। मैं अपना पेट पाल रहीं हूँ केवल किराए के पैसे से… मैं कमजोर निसहाय… सभी अपमानित करते हैं और कोई सहानुभूति भरा शब्द भी नहीं कहता।

शिपुचिन - लाइये… (उसका अर्जी लेकर पढ़ता है।)

तात्याना अलेक. (खिरिन को) - फिर से शुरुआत… पिछले हफ्ते अचानक माँ का पत्र मिला। लिखती है कि मेरी बहन कात्या को किसी ग्रेनदीलेव्स्की ने विवाह का प्रस्ताव दिया। सुंदर, विनम्र, नौजवान पर न तो उसके पास धन-दौलत थी और ना ही कोई सामाजिक हैसियत। पर दुःख की बात, सोचो जरा, कात्या को पसंद आ गया। पर क्या करें? माँ लिखती है, कि मैं बिना देर किए आ जाऊँ और कात्या पर दबाब डालूँ।

खिरिन (गंभीरतापूर्वक) - माफ कीजिए, आप के कारण मैं भूल गया! आप क्या माँ-कात्या, माँ-कात्या, लगा रखीं हैं? मैं सारा हिसाब भूल गया।

तात्यांना अलेक. - इतना महत्वपूर्ण है! जब महिला आप से बात करे तो सुनना चाहिए! क्यों आज आप इतने गुस्से में हैं? प्यार हो गया है? (हँसती है।)

शिपुचिन (मेरचुतकिना को) - क्या है यह सब? मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा....

तात्यांना अलेक. - प्यार हो गया है? ओहो! शरमा गये!

शिपुचिन (पत्नी को) - तन्युशा, प्रिय , एक मिनट के लिए ऑफिस में जाओ। मैं अभी आया।

तात्याना अलेक. - ठीक है। (जाती है।)

शिपुचिन - मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा। जाहिर है, महोदया, आप गलत जगह पर आ गयीं हैं। आपका प्रार्थना पत्र, जो भी हो, इसका हमलोगों से कोई संबंध नहीं है, आप उस दफ्तर में इसे ले जाइए, जहाँ आपके पति काम करते थे।

मेरचुतकिना - मैं अब तक पाँच जगह जा चुकी हूँ, और कहीं भी मेरी अर्जी स्वीकार नहीं की गयी। मेरा दिमाग खराब हो गया है, फिर मेरे दामाद बरिस मातवेयिच ने आपके पास आने की सलाह दी। “आप, वो कहता है, - माताजी, शिपुचिन साहब के पास जाओ: वे लोग प्रभावशाली हैं, कुछ भी कर सकते हैं -" मदद कीजिए सरकार!

शिपुचिन - हमलोग, महोदया मेरचुतकिना, आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकते। आप समझने कि कोशिश कीजिए: आपके पति, जहाँ तक मैं समझ रहा हूँ, सेना-चिकित्सा विभाग में काम करते थे। और हमारा प्रतिष्ठान एकदम गैर सरकारी, व्यावसायिक बैंक है। कैसे आप यह नहीं समझ रही हैं!

मेरचुतकिना - सरकार, मेरे पास मेडिकल सर्टिफिकेट भी है, कि मेरे पति बीमार थे। यह रहा, देखने की कृपा करें।

शिपुचिन (झुंझलाते हुए) - अच्छी बात है, मुझे आप पर भरोसा है, पर फिर से कहता हूँ, इससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है।

परदे के पीछे से तात्याना अलेक. की हँसी, उसके बाद एक पुरुष की हँसी।

शिपुचिन (दरवाजे की तरफ देखता है) - वह वहाँ क्लर्क को परेशान कर रही है। (मेरचुतकिना को संबोधित करते हुए।) बड़ी अजीब और हास्यास्पद बात है। सच में, क्या आपके पति को पता नहीं, की आपको कहाँ जाना चहिए?

मेरचुतकिना- वे, सरकार, कुछ भी नहीं जानते। केवल एक ही बात कहते हैं "यह तुम्हारे बस की बात नहीं है! ज़हन्नुम में जाओ!"

शिपुचिन - मैं एक बार फिर कहता हूँ मैडम: आपके पति सेना-चिकित्सा विभाग में काम करते थे, और यह बैंक है, गैर सरकारी, व्यावसायिक प्रतिष्ठान…

मेरचुतकिना - ठीक है, ठीक है… समझ गयी, महाशय। इस स्थिति में, सरकार, मुझे केवल 15 रुबल देने का आदेश दे दें! मैं सारे पैसे एक बार नहीं माँगती!

शिपुचिन (सांसें भरते हुए) - ओफ... हो…

खिरिन - अंद्रेई अनद्रेयिच, इस तरह मैं रिपोर्ट कभी पूरा नहीं कर पाऊँगा!

शिपुचिन - अभी। (मेरचुतकिना को संबोधित करते हुए।) आपके भेजे में क्यों नहीं घुस रहा। समझने की कोशिश कीजिए, कि इस तरह की अर्जी हमारे पास लाना वैसी ही बात है जैसे कि दवाई दुकान या नाप-तौल विभाग में तलाक की अर्जी देना।

दरवाजे पर दस्तक। तात्यांना अलेकस्येव्ना की आवाज: "अंद्रेई, क्या मैं अंदर आ सकती हूँ?"

(चिल्लाता है।) एक मिनट, प्रिय! (मेरचुतकिना को) आपको बाकी के पैसे नहीं मिले तो हमलोग क्या कर सकते हैं? और, महोदया, आज हमलोगों की वार्षिक जंयती है, हमलोग बहुत व्यस्त हैं… यहाँ पर कोई भी आ सकता है अब… क्षमा करें...

मेरचुतकिना - सरकार, दया कीजिए, अनाथ हूँ! मैं कमजोर, निसहाय… अब बस मरना ही बाकी है… किरायेदारों के साथ केस-मुकदमा, पति के लिए सिफारिश करते फिरना और गृहस्थी भी संभालना, इसके अलावे दामाद की नौकरी भी नहीं है।

शिपुचिन - महोदया मेरचुतकिना, मैं… नहीं, माफ कीजिए, मैं आपके साथ बात नहीं कर सकता! मेरा सिर चकरा रहा… आप हमलोगों को परेशान कर रहीं हैं, समय बरबाद कर रहीं हैं (एक तरफ सांसें भरता है।) ये रुकावट है, क्योंकि मेरा नाम शिपुचिन है! (खिरिन को) कुज़्मा निकलायिच कृपया समझा दीजिए आप, मैडम मेरचुतकिना को... (हाथ से इशारा करता है और दूसरी तरफ चला जाता है।)

खिरिन (मेरचुतकिना के पास आता है। गंभीरतापूर्वक) - मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?

मेरचुतकिना - मैं एक महिला हूँ, कमजोर , निस्सहाय.... शक्ल-सूरत से भले ही स्वस्थ लगूँ पर अगर मेरी जाँच की जाए तो एक भी नस स्वस्थ नहीं मिलेगी। बमुश्किल पैरों पर खड़ी हो पाती हूँ, भूख भी नहीं लगती। आज की कॉफी भी फीकी लगी।

खिरिन - मैं आपसे पूछता हूँ, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?

मेरचुतकिना - साहब, मुझे 15 रूबल भुगतान करने का आदेश दे दें और बाकी रकम एक महीने के बाद।

खिरिन - पर आपको, ऐसा लगता है... साफ-साफ खुले शब्दों में बता दिया गया है कि यह बैंक हैं।

मेरचुतकिना - ठीक है, ठीक है... अगर जरूरत पड़ी तो मैं मेडिकल रिपोर्ट भी दिखा सकती हूँ।

खिरिन - आपको कुछ समझ आता है कि नहीं?

मेरचुतकिना - प्यारे, मैं अपना ही पैसा माँग रहीं हूँ। मुझे मुफ्त का नहीं चाहिए।

खिरिन - मैं, आपसे, मैडम, पूछता हूँ। आपको कुछ समझ में आता है कि नहीं? लानत है, मुझे आपसे बात ही नहीं करनी चाहिए! मैं व्यस्त हूँ। (दरवाजे की तरफ दिखाता है।) आपसे विनती करता हूँ।

मेरचुतकिना (हैरान होते हुए) - और पैसे?

खिरिन - तो आपकी खोपड़ी में दिमाग नहीं है, बल्कि यह है... (उंगलियों से मेज पर आवाज करता है फिर अपने ललाट पर)

मेरचुतकिना (बुरा मानते हुए) - क्या? पर कोई बात नहीं... अपनी बीबी का माथा पीटना। मैं प्रांतीय सचिव की पत्नी हूँ... मेरे साथ ज़्यादा नहीं!

खिरिन (गुस्से में, थरथराते हुए) - जाओ यहाँ से!

मेरचुतकिना - न, न... ज्यादा नहीं!

खिरिन (दबे स्वर में) - अगर तुम इसी समय नहीं गयी तो मैं अभी चौकीदार को बुलाता हूँ। (पैर पटकता है)

मेरचुतकिना - कोई नहीं, कोई नहीं! मैं नहीं डरती! तुम जैसे बहुत देखें हैं... लुच्चे कहीं के!

खिरिन - मैंने अपनी पूरी जिंदगी में तुम्हारे जैसी महिला नहीं देखा... ओफ! दिमाग खा गयी... (जोर-जोर से साँसें लेता है) मैं तुम्हें एक बार फिर से कहता हूँ... सुन लो! अगर तुम, बूढ़ी चुड़ैल, इसी वक्त

यहाँ से नहीं गई तो मैं तुम्हारा भूसा बना दूँगा। मैं ऐसा आदमी हूँ कि तुम्हें हमेशा के लिए अपाहिज बना सकता हूँ। मुझे जुर्म करने के लिए मजबूर मत करो।

मेरचुतकिना - हाथी चले बाजार, कुत्ते भौंके हजार। मैं नहीं डरती। तुम्हारे जैसे बहुत देखें हैं।

खिरिन (हताश होते हुए) - अब मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता। मुझे चक्कर आ रहे हैं। (मेज के पास जाकर बैठ जाता है।) बैंक में महिलाएं भर गई हैं, इसलिए मैं रिपोर्ट पूरा नहीं कर सकता।

मेरचुतकिना - मैं दूसरों का पैसा नहीं माँग रही पर अपना अधिकार, वो भी नियम के अनुसार। बेशर्म कहीं के! ऑफिस में फेल्ट बुट पहने बैठा… कैशियर है…

शिपुचिन और तत्याना अलेकस्येवना का प्रवेश

तत्याना अलेक. (पति के पीछे) - हमलोग पार्टी में बेरेझनित्स्की गये। कात्या नीले रंग की हल्के लेस और खुले गले वाली स्कर्ट पहने थी… चेहरे के ऊपर लंबी लटें थी। मैनें खुद उसके बाल संवारे थे... बड़ी सुदंर लिबास पहने हुए थी और बाल संवार रखी थी, कितनी दिलकश लग रही थी।

शिपुचिन (माइग्रेन शुरू) - हाँ, हाँ… दिलकश… अभी वे लोग आ जायेगें यहाँ।

मेरचुतकिना - मेरे सरकार…!

शिपुचिन - अब ये क्या है? और क्या चाहिए?

मेरचुतकिना - मेरे हुजूर!... (खिरिन की तरफ इशारा करते हुए)... ये आदमी, यही… इसने उंगलियों से माथा ठोंका और फिर टेबुल… आपने इसे मेरे केस की तहकीकात करने का हुक्म दिया और ये मेरा मजाक उड़ाता रहा और भद्दे भद्दे शब्द बोलता रहा। मैं एक कमजोर, असहाय महिला…

शिपुचिन - अच्छा, महोदया, मैं जाँच पड़ताल करूंगा... और कुछ कारवाई करूँगा… पर बाद में… अभी जाइये… (एक तरफ) मेरे जोड़ों का भी दर्द शुरू हो गया है!...

खिरिन (शिपुचिन के पास आता है और धीमे स्वर में) - अंद्रेई अन्द्रेयिच, चौकीदार को बुलाकर इसे बाहर निकालने का आदेश दें। आखिर ये क्या है?

शिपुचिन (डरते हुए) - नहीं, नहीं ये बहुत शोर मचायेगी, और इस इमारत में बहुत सारे फ्लैट हैं।

मेरचुतकिना - मेरे सरकार….

खिरिन (रोने की आवाज में) - पर आखिर मुझे रिपोर्ट पूरी करनी है। मुझसे नहीं होगा!... (मेज के पास वापस आता है।) मैं नहीं कर सकता!

मेरचुतकिना - मेरे सरकार, कब मुझे मिलेगी? मुझे आज ही पैसों की जरूरत है।

शिपुचिन (एक तरफ क्रोधित होते हुए) - चुड़ैल कहीं के। (मेरचुतकिना को प्यार से) मैडम आपको पहले ही बोल चुका हूँ। यह बैंक है, गैरसरकारी, व्यावसायिक प्रतिष्ठान...

मेरचुतकिना - कृपा करें, सरकार, आप हमारे माई-बाप हैं… अगर मेडिकल सर्टिफिकेट से काम नहीं चलता तो जिला ऑफिस से भी सर्टिफिकेट ला सकती हूँ। पैसे भुगतान करने का आदेश दे दें।

शिपुचिन (जोर से सांस लेते हुए) - ओफ हो!

तत्याना अलेक. (मेरचुतकिना को) - बूढ़ी अम्मा, आपको कह रहे हैं कि आप यहाँ काम में खलल डाल रही हैं। कैसी औरत हैं आप?

मेरचुतकिना - सुंदरी, माई, मेरे लिए पैरवी करने वाला कोई नहीं है। कहने को तो किसी तरह खा-पी लेती हूँ, आज कॉफी भी बेस्वाद…

शिपुचिन (परेशान होते हुए, मेरचुतकिना को) - आपका कितना बनता है?

मेरचुतकिना - 24 रूबल और 36 कोपेक।

शिपुचिन - ठीक है! (पर्स से 25 रूबल निकालता है और उसे देता है) यह रहे आपके 25 रूबल लीजिए,... दफा हो जाइये।

खिरिन गुस्से से खाँसता है।

मेरचुतकिना - बहुत-बहुत शुक्रिया, सरकार... (पैसे छुपाती है)

तत्याना अलेक. (पति के बगल में बैठते हुए) - अभी मुझे घर जाना चाहिए… (घड़ी देखकर) पर मेरी बात पूरी नहीं हुई… अभी एक मिनट में खत्म करूँगी और जाऊंगी… क्या हुआ! ओह क्या हुआ! और इस तरह हमलोग पार्टी में बेरेझनित्सकी गये... सब ठीक-ठाक था, सब खूश थे, पर खास कुछ नहीं था... निस्संदेह, कात्या का प्रशंसक ग्रेनदिलेव्सकी भी था... पर मैंने कात्या से बात कर ली थी , रोई भी थी और दबाब भी डाला था। कात्या ने वहीं, पार्टी में ही, ग्रेन्दिलेवस्की को सब कुछ बता दिया और उसे मना कर दिया। मैंने सोचा सब कुछ ठीक हो गया; माँ शांत हो गई, कात्या को बचा लिया और अब मुझे चैन मिलेगा। पर आप क्या सोचते हैं? डिनर के पहले हमलोग बाग में टहल रहे

थे और अचानक... (परेशान होते हुए।) और अचानक गोली चलने की आवाज।… नहीं, मैं इस बारे में इतनी सहजता से नहीं कह सकती। (रूमाल से चेहरे पर हवा करती है।) नहीं, मैं नहीं बता सकती!

शिपुचिन (आहे भरते हुए) - ओफ!

तत्याना अलेक. (रोती है) - हमलोग पैवेलियन की तरफ दौड़े, और वहाँ… वहाँ बेचारा ग्रेनदिलेवस्की पड़ा था... हाथ में रिवाल्वर लिये…

शिपुचिन - नहीं, यह मैं नहीं सह सकता! नहीं सह सकता! (मेरचुतकिना को) आपको और क्या चाहिए?

मेरचुतकिना - सरकार, क्या मेरे पति को फिर से नौकरी नहीं मिल सकती?

तत्याना अलेक. (रोते हुए) - उसने सीधा अपने दिल में गोली मारी... ये यहाँ पर… कात्या वहीं बेहोश हो गई, बेचारी… और वह खुद बहुत डर गया। पड़ा था… और डॉक्टर बुलाने की विनती कर रहा था। तुरंत डॉक्टर आया और… और उस अभागे को बचा लिया…

मेरचुतकिना - क्या मेरे पति को फिर से नौकरी नहीं मिल सकती?

शिपुचिन - नहीं, मैं ये नहीं सह सकता! (रोता है) नहीं सह सकता! (हताश होते हुए, दोनों हाथ खिरिन की तरफ बढ़ाता है। निकालो इसे! धक्के देकर निकालो।

खिरिन (तत्याना अलेक. के पास आकर) - निकलो!

शिपुचिन - इसे नहीं, बल्कि उस… उस चुड़ैल को... (मेरचुतकिना की तरफ इशारा करता है।) उसको।

खिरिन (समझ नहीं पाता है, तत्याना अलेकस्येवना को) - जाओ यहाँ से! (पैर पटकता है।) निकलो।

तत्याना अलेक. - क्या? क्या हो गया आपको? पागल हो गये हैं क्या?

शिपुचिन - हद हो गयी! मैं बहुत अभागा आदमी हूँ। निकालो उसे! निकालो!

खिरिन (तत्याना अलेक. को) - निकलो, वरना सर फोड़ दूँगा। जुर्म कर बैठूंगा।

तत्याना अलेक. (उसके पास से भागती है, और वह उसके पीछे) - तुम्हारी इतनी हिम्मत! बदमाश! (चिल्लाती है) अंद्रेई! बचाओ! अंद्रेई! (चिल्लाती है।)

शिपुचिन (उन दोनों के पीछे भागता है) - रूक जाओ! हाथ जोड़ता हूँ। मुझ पर रहम करो।

खिरिन (मेरचुतकिना को दौड़ाता है) - निकलो यहाँ से! पकड़ो! पीटो!

शिपुचिन (चिल्लाता है) - रूक जाओ! तुमसे विनती करता हूँ! तुम्हारे पैर पड़ता हूँ!

मेरचुतकिना - बाबूजी… बचाओ!... (शोर मचाती है) बचाओ!...

तत्याना अलेक. (चिल्लाती है) - बचाओ!... बचाओ!... आह, ओफ… चक्कर , चक्कर आ रहा है ! सोफे पर चढ़ जाती है फिर लुढ़क जाती है और दौरा पड़ जाता है।

खिरिन (मेरचुतकिना के पीछे भागता है) - पीटो उसे! पकड़ो!

मेरचुतकिना - आह, आह… बाबूजी, आँखों के सामने अंधेरा छा रहा है! आह ! (बेहोश होकर शिपुचिन की बाहों में झूल जाती है।)

दरवाजे पर दस्तक और स्टेज के पीछे से आवाज: "डेपुटेशन" (समितिमंडल)

शिपुचिन - डेपुटेशन… रेपुटेशन… ओकुपेशन

खिरिन (पैर पटकता है) - लो आ गये, शैतान उठा ले जाये मुझे! (शर्ट की आस्तीन ऊपर चढ़ाता है।) इसे मुझे दे दीजिए! आज मुझसे जुर्म भी हो सकता है।

पाँच सदस्यों वाला डेपुटेशन का प्रवेश: सभी टैल कोट में, एक के हाथ में मखमली कवर वाला अभिनंदन पत्र, दूसरे के हाथ में जग। कर्मचारी दरवाजे से देख रहे हैं। तत्याना अलेकस्येवना सोफे पर पड़ी है, मेरचुतकिना शिपुचिन के हाथों में, दोनों कराह रहीं हैं।

बैंक समिति का सदस्य (जोर से पढ़ता है) - मान्यवर और प्रिय अंद्रेई अंद्रेयेविच। पूर्व के हमारे वित्तीय प्रतिष्ठान पर अतीतदर्शी दृष्टिकोण डालते हुए एवं इसके सतत विकास के इतिहास पर सरसरी निगाह डालते हुए, हमें चरम प्रसन्नता हो रही है। यह सच है कि इसकी स्थापना के प्रारंभिक दिनों में सीमित मूल पूंजी एवं संसाधन, महत्वपूर्ण लेन-देन का अभाव और अनिश्चित लक्ष्य के कारण एक समय तो इस बैंक को बंद करने के स्वर भी उभरने लगे थे। परंतु उस मुश्किल घड़ी में इस बैंक को आपका नेतृत्व मिला, आपका ज्ञान, ऊर्जा एवं दक्षता के कारण ही इस बैंक को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। इस बैंक की प्रतिष्ठा... (खाँसते हुए) बैंक की साख…

मेरचुतकिना (कराहते हुए) - ओह! ओह!

तत्याना अलेक. (कराहते हुए) - पानी! पानी!

समिति सदस्य (जारी रखते हुए) - प्रतिष्ठा… (खाँसते हुए) आपके कारण इस बैंक की प्रतिष्ठा को इतनी ऊँचाई मिली कि आज यह श्रेष्ठ विदेशी बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा कर रहा है…

शिपुचिन - डेपुटेशन… रेपुटेशन... ओकुपेशन

दो दोस्त शाम ढले टहलते हुए

आपस में गहन वार्ता करते हुए

ओह, ये न कहो कि तुम्हारा यौवन खत्म हुआ

मेरी ईर्ष्या के कारण।

समिति सदस्य (संकोच के साथ जारी रखते हुए) - इसलिए वर्तमान स्थिति पर पक्षपातरहित दृष्टिकोण डालते हुए, हमलोग, सम्मानीय एवं प्यारे अंद्रेई अंद्रेयेविच… (आवाज धीमा करते हुए) इस परिस्थिति में हमलोग बाद में... अच्छा होगा बाद में…

उधेड़-बुन में बाहर जाते हुए।

परदा

<u>अनुवादक</u>

डॉ. आशुतोष आनंद

सहायक प्रोफेसर

रूसी अध्ययन केंद्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

aanand@jnu.ac.in